सद्भाव और सहकार पर ही परिवार संस्था निर्भर

-श्रीराम शर्मा आचार्य

सद्भाव और सहकार पर ही परिवार संस्था निर्भर

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

२०१०

मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक—
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

२०१०

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

गृहस्थ जीवन में सरसता बनी रहे

दांपत्य जीवन की शुरुआत करते समय भारतीय वर-वधू परस्पर प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं कि हम एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठ रहेंगे, उदार रहेंगे, सहयोग करेंगे और प्रगति पथ पर साथ-साथ आगे बढ़ेंगे। यह प्रतिज्ञा यदि निष्ठापूर्वक दोनों ओर से निभाई जाए तो निश्चय ही दंपत्ति एक सुदृढ़ सम्मिलित इकाई के रूप में सक्रिय रहते हैं और उनका जीवन आनंद, प्रकाश तथा प्रगति की सुरभि से महक उठता है। ऐसे दंपति जिस समाज में रहते हैं, वह समाज एक सुरभित उद्यान बना रहता है।

दांपत्य जीवन की सफलता के लिए इन दिनों शारीरिक स्वास्थ्य, आर्थिक समृद्धि, शिक्षा और सौंदर्य को आधार मानने की रीति है। निस्संदेह, सांसारिक जीवन को चलाने के लिए ये सभी आवश्यक हैं, पर भौतिक उपकरणों से भी पहले गहन आत्मीयता और सघन संवेदना की उपस्थिति दांपत्य जीवन की आरंभिक शर्त है। यदि भावनाओं से पति-पत्नी एक-दूसरे से अर्द्धांग रूप से जुड़े रहते हैं, उनमें प्रेम एवं आत्मीयता भरी रहती तो भौतिक साधन उन्हें सर्वोपरि नहीं प्रतीत होंगे, बाह्य आकर्षण उन्हें उतने आवश्यक नहीं लगेंगे।

प्रेम और आकर्षण दो भिन्न तत्व हैं। शारीरिक गठन व स्वास्थ्य और सौंदर्य के अनुपात से घटती-बढ़ती रहने वाली राग वृत्ति को आकर्षण कहते हैं, जबकि प्रेम इससे भिन्न एक आध्यात्मिक तत्व है जो दांपत्य जीवन में मधुरता का, कठिन परिस्थितियों में भी सघन आत्मीयता और कर्त्तव्य निष्ठा का, आनंद-प्रमोद तथा आह्लाद का संचार करता रहता है। अंतःकरण का संतोष ही उसे पालता है।

यह भूलना नहीं चाहिए कि प्रेम और आत्मीय सघनता का विकास सहयोग, समर्पण और त्याग के धरातल पर ही संभव है।

संतुलन और सामंजस्य एकांगी नहीं होता। एकाकी प्रयत्न से सामंजस्य का प्रयास प्रायः निरर्थक ही सिद्ध होता है। तुला के दो पलड़ों को संतुलित रखने के लिए समतुल्य भार की वस्तुएँ ही दोनों ओर रखनी होती हैं। नाव के दोनों सिरों पर बैठे लोगों में परस्पर संतुलन न हो तो नाव डगमगाने लगती है और डूबने का खतरा आ खड़ा होता है। दांपत्य जीवन में बराबरी का सहयोग और सहकार आवश्यक होता है। इस सघन सद्‌भाव का विकास तभी होता है, जब दांपत्य जीवन का लक्ष्य उदात्त हो। यह दोनों के समक्ष स्पष्ट रहे कि हमारे मिलन का अभिप्राय काम सेवन की सुविधा, रोटी बनाने, घर चलाने की व्यवस्था या एक कमाऊ साथी की प्राप्ति नहीं, अपितु दो आत्माओं का एकीकरण है। पति-पत्नी के बीच विद्यमान आकर्षण का चरम प्रयोजन है—दो व्यक्तियों के मिलन की ऐसी अनूठी प्रक्रिया का संपन्न होना, जो समाज में एक नई ही वस्तु को, एक नई ही प्रक्रिया को जन्म दे। नर-नारी के बीच ऐसे अद्‌भुत घुलनशील तत्व हैं कि यदि वे दोनों गहन स्तर तक परस्पर मिल सकें तो एक नया संयुक्त व्यक्तित्व उत्पन्न होता है और उसके प्रभाव से दोनों अपना पुराना स्तर खोलकर नए स्तर के बन जाते हैं। कुमारी अवस्था में लड़की जिस स्तर की थी, उसमें विवाह के बाद कायाकल्प जैसा परिवर्तन होता है और किशोर लड़के विवाह से पूर्व जिस प्रकृति के थे, विवाह के बाद इतने बदले पाए जाते हैं कि केवल आकृति ही पुरानी रह जाती है—प्रकृति में जमीन आसमान जैसा अंतर उपस्थित होता है। इस पर घुलन के लिए मात्र शारीरिक समीप्य अपर्याप्त है। वह तो एक बहुत ही छोटा अंश भर है। व्यक्तित्वों का घुलना उतने भर से नहीं होता, उसके लिए भावनात्मक सघनता आवश्यक है। यही सघनता वह स्थिति लाती है कि एक प्राण दो शरीर का आभास होने लगे। उस स्थिति में दोनों का ही एक-दूसरे पर पूर्ण अधिकार रहता है।

सामान्यतः इस प्रक्रिया को उलट दिया जाता है। विवाह के उपरांत पति, पत्नी पर अपना पूर्ण अधिकार मान बैठता है और पत्नी

पति पर। इस अधिकार भावना में कर्त्तव्य भावना की उपेक्षा रहती है, पर कर्त्तव्य भावना की कमी रहने पर सच्ची आत्मीयता संभव नहीं।

पति-पत्नी दोनों में गहरी दरार तभी पड़नी शुरु होती हैं, जब वे एक-दूसरे से मात्र अपेक्षाएँ रखते हैं—अपना कर्त्तव्य याद नहीं रखते। जहाँ एक-दूसरे के प्रति सम्मान, कृतज्ञता एवं समान संवेदना नहीं है, वहाँ सहजीवन कैसे हो सकेगा ? एक-दूसरे पर अपनी रुचियों का आरोपण, अपनी अपेक्षाओं को ही प्रधानता देना ही, वह कारण है जिससे दांपत्य जीवन का रस स्रोत अवरुद्ध होता तथा सूखता चला जाता है।

यह भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए कि नर-नारी दोनों की सार्थकता का मानदंड एक ही है और दांपत्य जीवन की सफलता, सार्थकता की जिम्मेदारी दोनों की है, किसी एक की नहीं। राम स्वयं पत्नीव्रती थे—इसीलिए सीता रावण की लंका में रहकर भी सदा राम के प्रति निष्ठावान रहीं। जबकि बहुनारी-गामी रावण की महिषी मंदोदरी को रावण की मृत्यु के बाद विभीषण की पत्नी बनने में तनिक भी झिझक नहीं हुई, क्योंकि उसने जीवन भर एक निष्ठा को व्यर्थ मानने की सीख ही तो रावण से पाई थी।

यों विषम योनियों का मिलन पशु-पक्षियों, कीट-पंतगों सभी में तो होता रहता है। यह एक सामान्य जैविक प्रक्रिया मात्र है जो प्रकृत रूप से सृष्टि का प्रयोजन सिद्ध करती रहती है, पर नर-नारी के बीच का आकर्षण मात्र यौनतृप्ति एवं प्रजनन की प्रेरणा से ही नहीं होता क्योंकि मनुष्य की चेतना इतनी तक ही नहीं होती।

यह सही है कि प्रजनन प्रक्रिया और शारीरिक संयोग में प्रबल आकर्षण एवं प्रचंड आवेश है, किंतु शिशु सर्जन और वंश विस्तार की आवश्यकताएँ भर पूरी करते रहना, इस प्रचंड प्रेरणा का लक्ष्य नहीं है। अपितु इस प्रबल आकर्षण का मूल कारण दो लिंगी प्राणियों की अपूर्णताओं का परस्पर पूरक बनकर पूर्णता प्राप्त करने की आध्यात्मिक आकांक्षा है। इस प्रकार नर-नारी के बीच का यह गहरा खिंचाव मूलतः आध्यात्मिक प्रयोजन वाला है और इस आध्यात्मिकता

की दृष्टि से ही विवाह को एक धार्मिक संस्कार की गरिमा प्रदान की गई है।

यदि विवाह का उद्देश्य मात्र उच्छृंखल यौन-जीवन ही मान लिया जाए तो उस स्थायी अतृप्ति के लिए भी तैयार रहना चाहिए जो आज पश्चिमी नर-नारी की भाग्य रेखा ही बन गई है। यदि भावनात्मक उद्वेग, विवेक रहित है तो उससे सघनता नहीं दुराव ही बढ़ेगा। शरीरों की भिन्नता मिटा डालने की कामना का अर्थ यदि शारीरिक सामीप्य तक सीमित रह गया तो उससे प्राणों की घुलनशीलता संभव नहीं और तब दो व्यक्तियों के संयोग से उस तीसरे व्यक्तित्व के निर्माण की भी संभावना नहीं रह जाती जो कि दांपत्य जीवन की वास्तविक उपलब्धि है।

यह बात भली-भाँति समझ लेने योग्य है कि दांपत्य जीवन की सुख, शांति और सफलता का आधार परिष्कृत दृष्टिकोण तथा प्रखर उदात्त भावनाएँ हैं। पति-पत्नी के बीच स्नेह सद्भाव जितना अधिक होगा, दांपत्य जीवन उतना ही सरस, माधुर्य पूर्ण और सुदृढ़ होगा। अंतःकरण को स्पर्श करने और बाँधने वाले ये सूत्र जहाँ जितने ढीले होंगे, वहाँ उतनी ही अधिक कटुता होगी। परस्पर जीवन पर्यंत एक दूसरे को बाँधे रहने वाले स्नेह सद्भाव रूपी सूत्रों के टूटते ही दांपत्य-जीवन के बिखरते-टूटते देरी नहीं लगती। पति-पत्नी के बीच आपसी मतभेदों, मनोमालिन्य और मनमुटावों में भौतिक कारणों अथवा अभावों की उतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं होती, जितनी की सद्भाव से रहित व्यवहार की होती है। जिसकी चरम परिणति संबंध विच्छेदों तलाक की घटनाओं के रूप में होती है।

सुमधुर संबंध के लिए पति-पत्नी के बीच कैसा तारतम्य होना चाहिए, इसका एक आश्चर्यजनक किंतु प्रेरक और अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है, वनस्पति जगत के दो वृक्षों ने। समझा यह जाता है कि वृक्ष वनस्पतियाँ संवेदनाओं से रहित होती हैं, पर इस मान्यता को गलत सिद्ध किया है, देहरादून के एक वृक्ष युगल ने। देहरादून के वन अनुसंधान संस्थान में गाइनोकार्डिया ओडोरेटा नामक

दो सुंदर वृक्ष हैं जो अपनी विलक्षणताओं के लिए बहुचर्चित बने हुए हैं। इनमें से एक वृक्ष नर है और दूसरा मादा। दैनिक पत्र पंजाब केसरी ३० सितंबर, १९८१ के अंक में प्रकाशित समाचार के अनुसार १५ वर्ष पूर्व एक भयंकर तूफान आया। वन अनुसंधान केंद्र में लगे उपरोक्त दो वृक्षों में से नरवृक्ष उखड़कर गिर पड़ा। उससे १०० मीटर की दूरी पर ही मादा वृक्ष भी खड़ा था। तूफान का तो उसके ऊपर प्रभाव नहीं पड़ा, पर तीस वर्षों तक दोनों हमजोली की तरह पति-पत्नी की भाँति एक साथ रहते आए थे। तूफान से नर वृक्ष के गिरते ही मादा वृक्ष पति वियोग के आघात को सहन न कर सका। बिना किसी कारण वह मुरझाने लगा। अनुसंधान केंद्र के वैज्ञानिकों ने कारण ढूँढ़ने की कोशिश, की पर कुछ भी पता न चल सका। वृक्ष किसी प्रकार के रोग से ग्रसित न था और न ही किसी तरह के पोषण का अभाव था। मादा वृक्ष को बचाने के लिए वैज्ञानिकों ने हर संभव उपचार और प्रयास कर डाले, पर असफल रहे और देखते ही देखते मादा वृक्ष पति वियोग की व्यथा वेदना में झुलसकर सूख गया।

कुछ माह पूर्व केंद्र में काम करने वाले कर्मचारियों ने देखा कि नर वृक्ष जहाँ गिरा था, वहाँ उसकी कुछ जड़ें भूमि के नीचे दबी रह गयी थीं। उनमें से कोपलें फूटने लगीं। वह वृक्ष पुनर्जीवित हो उठा। वैज्ञानिकों को यह देखकर आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि मादा वृक्ष जो दीर्घकाल तक सूखा खड़ा था, नर के जीवित होते ही उसमें भी हरियाली आने लगी। कुछ ही माह में पूरा वृक्ष सजीव हो उठा। अब दोनों ही वृक्ष हरे-भरे दिखाई दे रहे हैं। उनमें शीघ्र ही फल आने की संभावना है। सबसे अचंभित करने वाला तथ्य यह है कि एक वृक्ष को जब भी कोई रोग होता है, ठीक उसी प्रकार के लक्षण उसी समय दूसरे वृक्ष में भी परिलक्षित होने लगते हैं।

संस्थान के वैज्ञानिकों ने इस आश्चर्यजनक तथ्य पर लंबे समय तक खोज-बीन की। उनका निष्कर्ष है कि दोनों वृक्षों के बीच तारतम्य जोड़ने वाले ऐसे कुछ अदृश्य संवेदनात्मक सूत्र विद्यमान हैं

जो परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इन वृक्षों का प्रत्यक्ष स्थूल जीवन भी उन सूक्ष्म संवेदनाओं द्वारा परिचालित है। इन दो वृक्षों का प्रणय प्रसंग समीपवर्ती क्षेत्र में चर्चा का विषय बना हुआ है। इस घटना से वैज्ञानिक समुदाय यह सोचने पर विवश हुआ कि वृक्ष वनस्पतियों को भी स्नेह, प्यार की उतनी ही आवश्यकता है जितनी मनुष्य जाति को।

वृक्ष होकर भी आपसी रिश्ते के प्रति इतने अधिक संवेदनशील व सहिष्णु हो सकते हैं तो मनुष्य को तो और भी अधिक सद्भावना का परिचय देना चाहिए। दांपत्य जीवन में पति-पत्नी के बीच कैसे संबंध होने चाहिए यह प्रेरणा और शिक्षा इन वृक्षों से भी ली जा सकती है।

❐❐

तलाक कोई स्थायी समाधान नहीं

भारतीय परिवारों के विषय में 'मैक्समूलर' ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—"स्नेह, सहयोग, आत्मीयता, समर्पण एवं त्याग का उदात्त भाव जो यहाँ दिखाई पड़ता है वह विश्व में कहीं भी अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय संस्कृति के साकार स्वरूप का दर्शन इन परिवारों में किया जा सकता है, जहाँ कि प्रत्येक सदस्य पदार्थ एवं बुद्धि निष्ठा से ऊपर उठकर अपने श्रेष्ठ त्याग द्वारा भाव निष्ठा का परिचय देता है। अभावग्रस्त स्थिति में रहते हुए भी पति-पत्नी के बीच का निश्छल प्रेम उन्हें ऐसे अटूट बंधन में बाँधे रहता है जो अन्य किसी भी भौतिक बंधन द्वारा संभव नहीं। भौतिक आकर्षणों द्वारा बँधे पश्चिमी परिवारों को भारतीय परिवारों में बहती हुई पावन सरिता में डुबकी लगाना तथा परिवार निर्माण के लिए प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए।"

सांस्कृतिक विरासत के रूप में भारत को प्राप्त अनेकानेक अनुदानों में एक थी—पारिवारिक स्नेह, सद्भाव की सुदृढ़ पृष्ठभूमि, जिसके कारण पति, पत्नी जीवन पर्यंत, सुख-दुःख में हिस्सा बँटाते खुशहाल रहते थे। संबंधों की प्रगाढ़ता के पीछे यह मान्यता भी काम करती थी कि पति-पत्नी के बीच का संबंध इस जीवन तक ही सीमित नहीं है वरन् जन्म-जन्मों तक का है। मान्यताएँ जब आत्मिक धरातल की थीं तो भौतिक वस्तुएँ अथवा छोटे-मोटे अवरोध अथवा विक्षोभ उनके आपसी रिश्तों को प्रभावित नहीं कर पाते। कभी मनमुटाव उत्पन्न भी होते थे तो भावनात्मक बंधन को प्रभावित नहीं कर पाते, देर-सबेर सुलझ जाते थे। गलती किसकी थी ? प्रायश्चित क्या हो ? दंड क्या हो ? इस प्रकार के प्रश्न नहीं उत्पन्न होते थे वरन् भावनात्मक ठेस किसको लगी और उसका उपचार क्या हो, प्रयत्न इसके लिए किए जाते थे। शरीर एवं बुद्धि के धरातल से

ऊपर उठकर भावनात्मक स्तर पर समाधान ढूँढ़े जाते थे। फलतः झगड़े-मनमुटाव कभी स्थायी रूप नहीं लेते थे और विग्रह, घृणा, द्वेष से बढ़कर विघटन जैसी परिस्थितियों का सामना नहीं करना होता था। अपवादों को छोड़कर शायद ही कहीं ऐसी स्थिति आती थी कि आपसी विग्रह के कारण विवाह विच्छेद अथवा तलाक जैसे सामाजिक कलंक की चादर ओढ़नी पड़े। जो ऐसे कदम उठाते भी थे उन्हें सामाजिक तिरस्कार, उपेक्षा एवं घृणा का भाजन बनना पड़ता था। सामाजिक एवं धार्मिक मर्यादाएँ भी ऐसी प्रवृत्तियों को कड़ाई से रोकती थीं। संभवतः पुरातन ऋषियों, मनीषियों की इस व्यवस्था के पीछे यह दूरदर्शिता रही होगी कि परिवार टूटेंगे तो समाज बिखरेगा और मनुष्य अधिक उच्छृंखल हो जाएगा। परिवार से मिलने वाले भावनात्मक परिपोषण के अभाव में संबंधित सदस्यों का भविष्य अंधकारपूर्ण बन जाएगा। यदि यत्किंचित कोई अपना शारीरिक एवं बौद्धिक निर्माण करने में सफल भी हो जाता है तो भाव संवेदनाओं की कंगाली उसे स्वार्थी एवं असामाजिक ही बनाएगी। कठोर सामाजिक व्यवस्था एवं आत्मानुशासन के कारण पति-पत्नी एक-दूसरे से चिताग्नि के पूर्व अलग नहीं हो पाते थे। स्नेह, सद्‌भाव से युक्त ऐसे परिवारों का दिग्दर्शन करके मैक्समूलर जैसे पश्चिमी विद्वान के मुख से उपरोक्त उद्‌गार निकल पड़े हों तो कोई आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिए।

पश्चिम की भौतिकवादी मान्यताओं ने हमारे जीवन-दर्शन को बुरी तरह प्रभावित किया है। परिवार के संबंध में चली आ रही सदियों की उदात्त दृष्टि भी प्रभावित हुई है। सघन भाव-संवेदनाएँ कभी पति-पत्नी ही नहीं संपूर्ण परिवार को जोड़े रखती थीं। उसमें भारी कमी आई है। योरोप की भाँति यहाँ भी बुद्धि, भावनाओं पर हावी होती जा रही है। दांपत्य जीवन का भावनात्मक आधार लड़खड़ाता जा रहा है। पति-पत्नी के बीच भावनात्मक मनमुटावों का समाधान अब अपने देश में भी भावनाओं के आधार पर ढूँढ़ा जाता है, फलस्वरूप बौद्धिक समाधान में प्रत्यक्ष हल लूला-लंगड़ा तो निकल आता है, पर हृदय के मर्मस्थल में लगे घावों का कोई उपचार नहीं

बन पाता। देर-सबेर ऐसे मन-मुटाव नया जामा पहनकर नए रूप में प्रकट होते हैं। जैसे-जैसे भावनात्मक रिश्ते बौद्धिकता के धरातल पर आने लगते, यह टकराहट और भी बढ़ती जाती है और एक सीमा पर आकर स्थिति विस्फोटक हो जाती है और तब तलाक के लिए आवाज लगाई जाती है तथा न्यायालय के दरवाजे खटखटाए जाते हैं।

कभी भारतीय परिवार अपनी गौरव-गरिमा, महानता, त्याग एवं बलिदान के लिए विश्वभर में विख्यात थे, वे वर्तमान में किस तरह बिखरते जा रहे हैं, यह मात्र परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करने पर पता चलता है। तलाक दूसरे देशों में भी होते हैं। बल्कि भारत की तुलना में कहीं अधिक होते हैं, किंतु उनके लिए यह सामान्य बात हो सकती है। अपने देश की स्थिति यूरोप के देशों से सर्वथा भिन्न रही है, जिस सांस्कृतिक परिवेश में हम पले हैं—उसके गौरव के लिए यह प्रवृत्ति सर्वथा प्रतिकूल है। किंतु आँकड़े बताते हैं कि पिछले दशक में अपने देश में किस तेजी से यह दुष्प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। सन् १९६१ में १०० व्यक्तियों के पीछे एक तलाक की घटना थी। वर्ष १९७१ में अर्थात् एक दशक बाद प्रति ५० व्यक्तियों के पीछे एक तलाक की घटना प्रकाश में आई। कुल ८७ लाख विवाह विच्छेद हुए। लगभग एक दशक बाद अर्थात् १९८० में विवाह विच्छेद की घटनाओं में तीन गुनी वृद्धि हो गयी।

कई विचारशील कहे जाने वाले व्यक्ति भी यह कहते हुए सुने जाते हैं कि पति-पत्नी के बीच विग्रह एवं मन-मुटाव बने रहने की तुलना में कहीं अधिक अच्छा है कि संबंध विच्छेद कर लिया जाए। क्या तलाक के बाद समस्या का हल निकल आता है ? क्या पति-पत्नी बाद में अधिक सुखी एवं संतुष्ट होते हैं ? जैसे प्रश्नों पर विचार करने पर निराशाजनक स्थिति ही दृष्टिगोचर होती है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि तलाक शुदा स्त्री-पुरुष कभी भी दूसरों का, समाज का विश्वास नहीं प्राप्त कर पाते। जन सामान्य मन ही मन यह सोचता है कि ये वही पुरुष अथवा स्त्री हैं जो अपनी पत्नी अथवा पति का साथ नहीं निभा सके, विश्वासपात्र एवं सहयोगी न

बन पाए। भीतर ही भीतर यह भावना ऐसे तलाकशुदों के प्रति बनी रहती है। किसी प्रकार इसकी शादी हो भी जाती है तो ऐसे पुरुष अथवा स्त्री जिनसे तलाकशुदा की शादी होती है, को सदा यह आशंका बनी रहती है कि सहयोगी का संबंध भविष्य में स्थाई रह सकेगा भी अथवा नहीं। जैसे-तैसे दांपत्य जीवन में बँध जाने के बावजूद भी गाड़ी आशंकाओं-कुशंकाओं के बीच मार्ग में लुढ़कती रहती है। मधुर दांपत्य जीवन के स्नेह सद्भाव का दर्शन कर पाना तो मुश्किल से ही संभव हो पाता है। शारीरिक एवं बौद्धिक धरातल तक उनके संबंध भले ही प्रगाढ़ हो जाएँ, किंतु भावनात्मक तादात्म्य नहीं स्थापित हो पाता, जिनके द्वारा उच्चस्तरीय आपसी त्याग बलिदान का उपक्रम चल सके।

सर्वाधिक दुर्दशा तो उन मासूमों की होती है जो जन्म तो ले लेते हैं, किंतु माता-पिता दोनों की स्नेह छत्रछाया नहीं प्राप्त कर पाते। किसी प्रकार भोजन, वस्त्र और शिक्षा की भौतिक व्यवस्था जुट भी जाए तो भी पानी की तलाश में मरुस्थल में प्यासे पथिक की भाँति उनका हृदय सदा माँ-बाप के प्यार एवं ममता के अभाव में अतृप्त बना रहता है। अन्वेषण से प्राप्त निष्कर्षों से ज्ञात हुआ कि ऐसे ही अतृप्त बच्चे आगे चलकर अपराधी अधिक बनते देखे जाते हैं।

एकांगी भौतिक सभ्यता के साथ यह अभिशाप सर्वाधिक जुड़ा हुआ है। अमेरिका जैसा देश संपन्नता की दृष्टि से सबसे अधिक विकसित कहा जाता है—तलाक के क्षेत्र में भी अग्रणी है। पिछले दिनों अमेरिका के एक साप्ताहिक पत्र में हृदय विदारक आँकड़े प्रस्तुत हुए हैं—

अमेरिका में जन्म लेने वाले बच्चों में से प्रतिवर्ष लगभग ४५ प्रतिशत बच्चे तलाक शुदा माता-पिता की संतान होते हैं। वयस्क होने से पूर्व ही उन्हें माता या पिता किसी एक से वंचित हो जाना पड़ता है। इन दिनों एक करोड़ दस लाख से अधिक बच्चे ऐसे हैं जिनके माँ-बाप तलाक ले चुके हैं। अनुमान है कि इस प्रकार परिवार टूटने से लगभग दस लाख की संख्या में ऐसे बच्चे प्रतिवर्ष बढ़ते जाएँगे।

न्यू हेवन, कनेक्टिकट के मेल चाइल्ड स्टडी सेंटर के डायरेक्टर अलबर्ट जे. सोल्निट ने बहुत वर्ष पहले ही कहा था, "इस शताब्दी के आठवें दशक में बच्चों को जिस मानसिक संकट का सामना करना पड़ रहा है, तलाक उसका मुख्य कारण है।"

पाश्चात्य देशों में तलाक भले ही आम बात बन गयी हो, लेकिन बच्चों पर इसकी बहुत बुरी प्रतिक्रिया होती है। विशेषज्ञों का कहना है कि तलाक की सूचना चाहे जितनी सावधानी से दी जाए, उससे हर बच्चे को असहनीय आघात लगता है। ऐसे बच्चे हठी हो जाते हैं, बात-बात पर क्रोध करने लगते हैं। ये बच्चे अपने तज दिए जाने और प्रेम से वंचित होने के भय से भी पीड़ित रहते हैं। कई बार बच्चों के मन में यह बात गहराई से जम जाती है कि माँ या बाप दोनों में से एक व्यक्ति ही तलाक के लिए जिम्मेदार है। जिसके प्रति उनका अविश्वास हो जाता है उसके प्रति मन ही मन घृणा की भावना पनपने लगती है।

आयोवा स्थित चाइल्ड गाइडेंस सेंटर के प्रधान मनोवैज्ञानिक जॉन टेडेस्को का कहना है "ये बच्चे बड़े हो जाने के कारण इतना तो समझ जाते हैं कि क्या हो रहा है, लेकिन उन्हें इस अवस्था में स्थिति को सँभालने की जानकारी नहीं होती।" कम उम्र के बच्चों को ऐसी स्थिति में गहरा सदमा पहुँचता है। बच्चों की सदा आकांक्षा रहती है कि वे किसी तरह माँ-बाप में फिर से मेल करा दें।

तलाक के परिणामस्वरूप पारिवारिक विघटन के साथ आर्थिक दबाव भी पड़ता है। मुकदमे बाजी का खर्च, दो-दो घरों की पृथक् व्यवस्था हो जाने से आर्थिक असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। सैंसर ब्यूरो की नवीनतम सूचना के अनुसार तलाकशुदा, परित्यक्ता, पुनर्विवाहित अथवा अविवाहित रहने वाली माताओं में से केवल २५ प्रतिशत को ही बच्चों का खर्च मिलता है। अर्थाभाव में शेष बच्चे दीन-हीन, अनाथों जैसा जीवन बिताते हैं।

जिन बच्चों को अधिकार में लेने के लिए मुकदमे लड़े जाते हैं, उन बच्चों की तो और भी दयनीय दशा हो जाती है। माँ-बाप के साथ-साथ न्यायालय भी इन फैसलों को निबटाने में निरंतर संघर्षरत

रहते हैं। देश की न्यायिक शक्ति का अधिकांश भाग इसी में निकल जाता है। कई अभिभावक तो ऐसे होते हैं जो बच्चों को अपने संरक्षण में रखना भी नहीं चाहते। जिन बच्चों पर माँ-बाप का संयुक्त अधिकार हो जाता है तब बच्चों के लिए दो अलग-अलग घरों में माता-पिता के साथ निर्वाह करना बहुत कठिन और उलझाव वाला सिद्ध होता है।

तलाक का आघात सहने के बाद बच्चों को सँभालने में बहुत दिन लग जाते हैं, फिर भी वे सामान्य जीवन क्रम नहीं अपना पाते। अमेरिका की प्रसिद्ध समाजसेविका वैलर स्टीन और जॉन केलो ने विभिन्न परीक्षणों के उपरांत निष्कर्ष निकाला है कि तलाक के बाद अधिकांश बच्चे सदा उदासीन बने रहते हैं। भावुक बच्चे इस आघात को भूल नहीं पाते। वे रह-रहकर तलाक से पहले के जीवन को याद करते और उसी के लिए तरसते हैं।

टैपलवेथ के पादरी अर्ल ग्रोलमेन तलाक को मृत्यु से भी अधिक भयंकर मानते हैं। उनका कहना है, "मृत्यु अंत में ले आती है, जीवन के साथ जुड़े सुख-दुःख भी समाप्त हो जाते हैं, लेकिन तलाक में अंत होता ही नहीं, उसका नारकीय अभिशाप जीवनपर्यंत जुड़ा रहता है।"

विश्व के प्रायः सभी देशों में तलाक ने पारिवारिक जीवन को बुरी तरह क्षत-विक्षत किया है। ब्रिटेन में भारी संख्या में ऐसे बच्चे हैं, जो अपने माता-पिता को जानते ही नहीं। सन् १९८२ के आँकड़ों के अनुसार यहाँ ६२०००० परिवार ऐसे हैं जिनमें बच्चों को माता या पिता दोनों में से किसी एक का संरक्षण प्राप्त है। इसके साथ ही प्रतिवर्ष ५०००० की संख्या में ऐसे अधूरे परिवार बढ़ जाते हैं। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार आज ब्रिटेन में हर आठ परिवारों में से एक परिवार अधूरा है।

केवल अमेरिका में तलाक के पश्चात् पुनर्विवाह हुए सौतेले माँ-बाप की संख्या लगभग ४० लाख है और २८ वर्ष से कम उम्र के अवयस्क सौतेले बच्चों की संख्या आठ लाख, पचास हजार है। तलाक के पश्चात् पुनर्विवाह इस आशा के साथ किया जाता है कि संभवतः अब का पारिवारिक जीवन अधिक सुखी रहेगा, लेकिन ऐसा

होता नहीं। उसके परिणाम भी लगभग उतने ही भयंकर होते हैं जितने कि तलाक के कारण हुए थे। दांपत्य जीवन में विग्रह उत्पन्न तो होता है, परिवार के सौतेले सदस्यों के साथ भी सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता।

सौतेले परिवार में प्रवेश करने वाले बच्चों को दो बार भावनात्मक आघात सहना पड़ता है। पहली बार तब, जब अपने अभिभावक को तलाक लेने से रोक नहीं पाते और दूसरी बार तब, जब वे दूसरी शादी रोकने में असफल रहते हैं।

प्रसिद्ध विचारक आर्यर नौर्टन ने तलाक की समस्या पर गहराई से चिंतन करने के उपरांत कहा कि "तलाक के कारण परिवार में अस्थिरता आ जाने से सामाजिक परंपराएँ भी दोषपूर्ण हो जाएँगी, यह समय ही बताएगा क्योंकि पारिवारिक परंपराओं के माध्यम से ही सामाजिक मान्यताएँ बनती हैं।

विश्व के मूर्धन्य समाज शास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि तलाक पारस्परिक विग्रहों, मतभेदों का समाधान नहीं है। तलाक से एक तात्कालिक समस्या से छुटकारा पा लिया जाए तो भी अनेक प्रकार की नई समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। ऐसे व्यक्ति जीवनपर्यंत दूसरों का विश्वास अर्जित नहीं कर पाते, अविश्वस्त ही बने रहते हैं। बच्चों का भविष्य सदा के लिए अंधकारमय हो जाता है। सर्वविदित है कि बच्चे का व्यक्तित्व माता-पिता के सम्मिलित प्रयास प्यार दुलार पाकर बनता विकसित होता है। माता-पिता में से एक के भी अलग हो जाने से उनके ऊपर गहरा आघात पहुँचता है। मन-मस्तिष्क के कोमल तंतु इस योग्य नहीं होते कि इस प्रचंड आघात को सहन कर सकें। फलतः वे टूट से जाते हैं। स्नेह प्यार के अभाव से हृदय में जो खाई पड़ जाती है, वह कभी नहीं पटती, सदा बनी रहती है। व्यक्तित्व मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक नवीन तथ्य उजागर हुआ है कि माता-पिता के स्नेह से वंचित रहने वालों का समुचित विकास नहीं हो पाता, भले ही उनके स्वास्थ्य, शिक्षा आदि की समुचित व्यवस्था क्यों न जुटा दी जाए। बाल अपराध की घटनाओं के आँकड़ों में भी ऐसे ही बच्चों की

संख्या सबसे अधिक पायी जाती है जो बचपन में माता-पिता की स्नेह छत्र-छाया से वंचित बने रहे हैं।

सभी देशों में यह प्रवृत्ति दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। अमेरिका, ब्रिटेन का मात्र उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। अन्यान्य विकसित राष्ट्रों की स्थिति भी विशेष अच्छी नहीं है। बढ़ती हुई इस मनोवृत्ति के अनेक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारण बताए जाते हैं। एक सीमा तक वे कारण सही भी हो सकते हैं, किंतु सबसे प्रमुख कारण है—एकांगी भौतिकवादी जीवन दर्शन को आश्रय देना, जिसमें वस्तुओं एवं तात्कालिक सुखों को ही महत्त्व दिया जाता है। बुद्धि भी इन्हीं की पक्षधर बनी रहती है। भाव संवेदना की उपेक्षा होने लगती है जिसे परिपोषित एवं विस्तृत करने के लिए तात्कालिक सुखों में कटौती करनी एवं स्वार्थों की बलि देनी पड़ती है। उल्लेखनीय है कि पति-पत्नी के रिश्ते भौतिक सुखोपभोग के बौद्धिक धरातल पर नहीं भावनात्मक आधारों पर टिके होते हैं। जब संपूर्ण जीवन दर्शन ही उपयोगितावादी मान्यता से अनुप्राणित है तो भला पति-पत्नी के आपसी रिश्ते ही क्यों कर अप्रभावित रहें। जहाँ एक-दूसरे का मूल्यांकन, उपयोगिता एवं प्रत्यक्ष लाभों के आधार पर किया जाने लगा तो भला भावना के सूक्ष्म संवेदनशील तंतु अपनी सुरक्षा कहाँ तक कर पाते हैं और टूट जाते हैं। इसकी परिणति परस्पर विग्रहों से बढ़कर तलाक के रूप में होती है। बिखरा दांपत्य जीवन और अनाथ होते मासूम बच्चे यही आज के भौतिकवादी दर्शन की देन है। कोई भी भावनाशील ऐसी प्रगति का समर्थन नहीं करेगा।

दांपत्य जीवन की अनबन, मनोमालिन्य एवं मन-मुटावों के कारण होने वाले विच्छेदों से अबोध मासूम बच्चों को कितनी अधिक वेदना सहनी पड़ती है यह तो वही अनुभव कर सकता है जो भुक्त भोगी हो अथवा बच्चों के अंतरंग में हो रही भावनात्मक उथल-पुथल की अनुभूति कर सके। कभी-कभी ऐसी मर्मस्पर्शी घटनाएँ प्रस्तुत होती हैं जो इन अबोधों की अंर्तव्यथा को प्रकट करती हैं। क्वालालंपुर (मलेशिया) के न्यायालय में तलाक का एक ऐसा केस आया जिसमें माननीय न्यायाधीश की करुणा बच्चों के प्रति उमड़ पड़ी और उन्हें

अपने निर्णय में तलाक जैसी प्रवृत्ति को परिवार के लिए एक अभिशाप के रूप में संबोधित करना पड़ा। दैनिक पत्र नव भारत टाईम्स २० अक्टूबर, १९८१ के अंक में घटना का सारांश इस प्रकार प्रकाशित हुआ था।

कुछ वर्षों पूर्व एक भारतीय महिला का विवाह मलेशियाई युवक से हुआ। आरंभिक दिनों में पति-पत्नी के आपसी संबंध माधुर्य पूर्ण बने रहे। दो बच्चियाँ होने के बाद छोटी-छोटी बातों पर अनबन शुरू हुई। कलह और मन मुटाव क्रमशः बढ़ता ही गया। बढ़ते-बढ़ते स्थिति तलाक तक जा पहुँची। एक भारतीय न्यायालय में पत्नी 'पुष्पा' ने संघर्षों से छुटकारा पाने के लिए तलाक के लिए केस प्रस्तुत किया। साथ ही दोनों बच्चों को अपने साथ रखने की अनुमति भी माँगी। न्यायालय ने एक अंतरिम आदेश द्वारा श्रीमती पुष्पा को लड़कियों को साथ रखने की अनुमति दी। पिता को भी अपनी बच्चियों से अपार स्नेह था। भारतीय न्यायालय में असफल होने के बाद उसने मलेशिया की नागरिकता के आधार पर संबद्ध क्वालालंपुर के हाईकोर्ट में याचिका प्रस्तुत की। जिसमें यह निवेदन किया गया था कि लड़कियों को पिता 'असद' के साथ रहने का आदेश दिया जाए। अदालत ने याचिका खारिज करते हुए भारतीय कोर्ट द्वारा दिए गए निर्णय को सही माना तथा निर्णय दिया कि बालिकाएँ अपनी माँ के साथ ही रहें। उल्लेखनीय बात केस के निर्णय का वह अंश है जो माननीय न्यायाधीश श्री अजायब सिंह द्वारा तलाक के विषय में सुनाया गया। फैसला सुनाते हुए उन्होंने कहा कि पति-पत्नी के आपसी संबंध विच्छेद के बाद बच्चे किसके पास रहें, इस प्रश्न को लेकर निर्णय देना अत्यंत दुखदाई होता है। प्रस्तुत केस में माँ-बाप का बच्चों के प्रति अगाध स्नेह है, यह बात निर्विवाद सत्य है। लड़कियों को अपनी माँ से गहरा प्यार है, पर पिता के प्रति भी घृणा नहीं है। लड़कियाँ माता-पिता दोनों से ही अलग रहना नहीं चाहती हैं। ऐसी स्थिति में कोर्ट को भी निर्णय देने में भारी असमंजस का सामना करना पड़ा है।

न्यायाधीश महोदय ने आगे कहा कि इस मामले में एक विकल्प यह हो सकता है कि एक लड़की माँ को दे दी जाए तथा दूसरी पिता को, लेकिन यह भी संभव नहीं है क्योंकि दोनों लड़कियों को

आपस में भी बेहद प्यार है। अतएव इन दोनों को एक-दूसरे से अलग कर देना न्याय नहीं अन्याय होगा। ऐसी विषम स्थिति में तथ्यों पर ध्यान देने से पता चलता है कि माँ की आर्थिक परिस्थितियाँ पिता की तुलना में कहीं अधिक अच्छी हैं। अन्य पक्षों पर भी विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि माँ पिता की अपेक्षा बच्चों की देखभाल अधिक अच्छी प्रकार कर सकेगी। अस्तु न्यायालय यह निर्णय देता है कि लड़कियों की देख-रेख तो माँ करे पर पिता को भी उनसे मिलते रहने की अनुमति दी जाती है।

यह तो मासूमों की वेदना का एक उदाहरण मात्र है। अधिकांशतः तलाक की घटनाओं में अबोध बालकों को ऐसी ही मानसिक पीड़ा झेलनी पड़ती है, पर अहमन्यता से ग्रसित आपसी सामंजस्य बिठा पाने की क्षमता से रहित पति-पत्नी के कठोर हृदयों पर इन मासूमों की व्यथा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तलाक द्वारा एक-दूसरे से छुट्टी पा लेने का मार्ग सरल तो दिखायी पड़ता है, पर इन बेचारों के साथ अंधकार मय भविष्य शुष्क एवं नीरस जीवन का अभिशाप सदा सर्वदा के लिए जुड़ जाता है। अपने लिए न सही इन मासूम बालकों के भविष्य के लिए तो पति-पत्नी को द्रवित होना चाहिए तथा छोटे-छोटे मतभेदों के कारण तलाक जैसे विघटनकारी मार्ग का अवलंबन नहीं ही लेना चाहिए।

तर्क तथ्य एवं प्रमाण इसी बात की पुष्टि करते हैं कि तलाक आपसी मनमुटाव का स्थाई समाधान नहीं है। पति-पत्नी को एक-दूसरे से छुट्टी पा लेने के बाद कितनी ही सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। उनकी तुलना छोटे-मोटे मनमुटावों से पैदा होने वाली कठिनाइयों से करने पर ज्ञात होता है कि बाद की समस्याएँ कहीं अधिक भयावह एवं प्रताड़ना देने वाली होती हैं। अपने देश के परिवारों में घुलते हुए इस विष को तत्काल रोका जाना चाहिए। यह भावनात्मक आधारों को टूटने से बचाने और उसे सतत परिपुष्ट करते रहने से ही संभव है।

❑❑

ये मासूम भटकने न पाएँ

किशोरों के घर से भागने की घटना एक आम बात हो गई है। इस प्रकार की घटनाएँ समाचार पत्रों, पत्रिकाओं, रेडियो द्वारा प्रसारित होती रहती हैं। भावी पीढ़ी में बढ़ती हुई यह प्रवृत्ति अभिभावकों एवं समाज के लिए गंभीर समस्या बनती जा रही है। माता-पिता एवं अभिभावकों को उनके घर से भागने से आंतरिक कष्ट होता है और बच्चों का भविष्य भी प्रायः अंधकारपूर्ण हो जाता है। ये किशोर सामान्यतः असामाजिक तत्वों के हाथ में पड़ जाते हैं, जो इनकी क्षमता का उपयोग अवांछनीय प्रयोजनों में करते देखे जाते हैं।

नगरों में बाल अपराध की घटनाएँ इन दिनों तेजी से बढ़ती जा रही हैं। अधिकांश बाल अपराध ऐसे ही बच्चों द्वारा किए जाते हैं। जिन असामाजिक तत्वों के चंगुल में ये एक बार फँस जाते हैं, फिर जीवन भर उनके इशारों पर नाचने के लिए विवश होते हैं। चोरी, जेबकटी, स्मगलिंग से लेकर भीख माँगने जैसे अनैतिक कृत्यों में अपराध वृत्ति के कुसंस्कार जड़ जमाते चले जाते हैं और आगे चलकर ये बच्चे ही बड़े अपराधी बन जाते हैं। जो समाज के निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते थे, वे ही अभिशाप सिद्ध होते हैं।

बच्चों के घर छोड़कर निकल जाने की प्रवृत्ति इन दिनों प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसे देखते हुए यह प्रतीत होता है कि कहीं कोई भारी त्रुटि हो रही है, जिसके कारण बच्चे ऐसे कदम उठाने में भी नहीं झिझकते। इस समस्या के निदान के लिए बाह्य उपचारों की अपेक्षा समस्या के मूल में जाना होगा जिसके कारण बच्चे अनिश्चित भविष्य की ओर बढ़ते हैं।

बच्चों का अधिकांश समय परिवार में व्यतीत होता है। माता-पिता के स्नेह, दुलार एवं भावनाओं के पोषण से बच्चे के

व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जहाँ एक ओर अभिभावकों के स्नेह-प्यार से बच्चे का विकास संभव है, वहीं दूसरी ओर उपेक्षा एवं तिरस्कार भाव से उसके कोमल हृदय पर कुठाराघात होता है। अभिभावकों के भावनात्मक बंधनों से ही बालक परिवार एवं परिजनों को सुख का केंद्र मानता है और उनसे अलग होने की कल्पना भी उसके लिए असह्य होती है। इसके विपरीत उपेक्षा एवं तिरस्कार का भाजन बनने पर, यह परिवार में अपने आपको अनुपयोगी समझने लगता है। परिणामस्वरूप घर के प्रति विरोध, आक्रोश, विद्रोह जैसी घातक भावनाएँ बच्चे के मन में पनपने लगती हैं। अपने ही घर परिवार में वह परायापन अनुभव करने लगता है और पलायनवादी बन जाता है। यहाँ से उसके अंधकारपूर्ण जीवन का प्रारंभ हो जाता है।

बालक का घर से विमुख हो जाना अभिभावकों के प्रति एक खुली चुनौती है। बच्चों में बढ़ती हुई इस प्रवृत्ति का मूल कारण ढूँढ़ने पर पता चलता है कि वस्तुतः माता-पिता ही दोषी हैं। बच्चों के प्रति कर्त्तव्यों और दायित्वों का भली प्रकार निर्वाह न करने से ही ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है। बच्चे का हृदय बड़ा ही संवेदनशील होता है, उसके मन पर भले-बुरे व्यवहार की अमिट छाप पड़ जाती है। परिजनों का स्नेहपूर्ण व्यवहार उसके भावी विकास में सहायक होता है। दुर्व्यवहार, कठोर आचरण एवं उपेक्षा से उनकी कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचती है। एक ही माता-पिता के दो बच्चों में योग्यता, रुचि, बुद्धि, प्रतिभा में भिन्नता होना स्वाभाविक है। अभिभावकों की इच्छा के प्रतिकूल होने पर उसे उपहास, अपमान, आक्षेप, तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता है। इस भावनात्मक आघात से मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और बच्चा मन ही मन क्षुब्ध होकर घर से चुपचाप निकल जाने का रास्ता अपनाता है।

बाल मनोवैज्ञानिक एवं अपराध विशेषज्ञ डा. दस्तूर ने विभिन्न परीक्षणों के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला कि—बच्चों के घर से भागने में सबसे प्रमुख कारण है—पारिवारिक परिवेश। इस अर्थ प्रधान युग में माँ-बाप के पास समय नहीं है कि वे बच्चों को सही ढंग से

समझने का प्रयास कर सकें, उनकी इच्छा रुचि का पता लगा सकें, उन्हें समुचित स्नेह-प्यार दे सकें। वे बच्चों से खुलकर हँस-बोल नहीं सकते तथा स्वयं उनके सामने 'रिजर्व' रहने का मिथ्या-ढोंग करते हैं। ऐसी परिस्थिति से बच्चा एकाकीपन अनुभव करने लगता है। इस एकाकीपन, उपेक्षा भाव से बच्चा परिजनों से टूट जाता है और उन्हें छोड़ देने में भी नहीं हिचकिचाता।

केवल उपेक्षा एवं अपमान से ही इस प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता हो—ऐसी बात नहीं। अत्यधिक स्नेह के नाम पर बच्चे की हर उचित-अनुचित इच्छा पूरी करना भी अंततः हानिकारक ही सिद्ध होता है। बचपन की सुसंपन्न परिस्थितियों के कारण बच्चे में विपन्न परिस्थितियों से लड़ने की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है। विलासिता एवं ऐशो-आराम के अभ्यस्त होने के कारण जीवन में छोटी से छोटी कठिनाई आने पर उनसे तालमेल बिठा पाना प्रायः उनसे असंभव हो जाता है। गरीबी के दिन आने पर उनकी इच्छाएँ पूर्ण होनी असंभव हो जाती हैं। उसकी पूर्ति के लिए वे घर से इस आशा के साथ बाहर निकलते हैं कि अधिक संपत्ति उपार्जित करेंगे। क्षमता एवं अनुभव के अभाव में सफलता प्राप्त करना तो दूर की बात है, भूखों मरने की भी नौबत आती है। ऐसे बच्चे शहरों में मारे-मारे घूमते हैं तथा बदमाशों के चंगुल में आने पर अनैतिक धंधे करने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

भौतिक उपलब्धियों का भी जीवन में अपना महत्त्व है, परंतु जो संपन्नता श्रम की वृत्ति को समाप्त कर दे वह मानव जीवन के लिए अहितकर है। आज अधिकांश परिवारों में बच्चों को सुख साधन अधिकाधिक देकर उनकी क्षमता एवं श्रम शक्ति को कुंठित कर दिया जाता है। प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करने की उनमें क्षमता नहीं रहती। गरीबी के दिन आने पर ऐसे बच्चे कम में गुजारा करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। अर्थ उपार्जन का कोई और उपाय न मिलने पर घर से भागकर बाहर कमाने का एक ही रास्ता उन्हें दिखाई देता है।

इस प्रवृत्ति से बच्चों को बचाने के लिए माता-पिता पर यह दायित्व आता है कि बच्चों को स्नेह-सद्‌भाव से तो वंचित न रखें, पर साथ ही उनकी गतिविधियों पर भी बराबर ध्यान रखें। उनमें बचपन से श्रमशीलता का अभ्यास डालें। यदि मोहवश उन्हें श्रम के अभ्यास से वंचित रखा गया तो वह आगे चलकर घातक ही सिद्ध होगा।

शिक्षा में अरुचि होने के कारण भी बच्चों में यह प्रवृत्ति पनपती है। जो बच्चे पढ़ाई में रुचि नहीं लेते या पढ़ने में कमजोर होते हैं, उन्हें घर पर अभिभावकों की प्रताड़ना और स्कूल में अध्यापकों द्वारा दंडित होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में या तो आत्महीनता की ग्रंथि बन जाती है या बच्चे में बदला लेने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। जब दबाववश स्कूल में जाने के लिए वह मजबूर होता है तो घर से भागने का रास्ता ही दिखाई देता है।

बच्चों में प्रारंभ से ही शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए प्रयास करना चाहिए। भावी जीवन के लिए उसकी क्या उपयोगिता और महत्ता है—यह समझाना चाहिए। स्कूली पढ़ाई के अतिरिक्त घर में भी नियमित पढ़ने का अभ्यास डालने और प्रोत्साहन देते रहने से बच्चे की रुचि को सहज ही इस दिशा में मोड़ा जा सकता है। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जो काफी प्रयत्न करने के बाद भी अध्ययन में रुचि नहीं लेते—ऐसे बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा के उपरांत उनकी रुचि के अनुसार किसी व्यापार अथवा उद्योग कार्य में लगाया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि जो बच्चे शिक्षा में पिछड़ जाते हैं, वे व्यापार अथवा उद्योग के क्षेत्र में सफल हो जाते हैं। रुचि न होने पर भी शिक्षा के लिए अत्यधिक दबाव देने और विद्यालय जाने के लिए बाध्य किए जाने पर, इनसे बचने के लिए घर से निकल जाने का रास्ता ही चुनते हैं।

गाँव के बच्चों में शहरी तड़क-भड़क का भी एक आकर्षण होता है। बुरे लड़कों के संपर्क में आकर बच्चे घर से निकल पड़ते हैं। सिनेमा, पार्क व दर्शनीय स्थलों पर प्रारंभ में घूमना तो अच्छा लगता है, लेकिन शीघ्र ही जीवन की कठोर वास्तविकता से परिचित होने पर भूख मिटाने के लिए अपराध वृत्ति ही अपनाते हैं।

बच्चों में घूमने-फिरने की सहज ही इच्छा होती है। अतः माता-पिता को बच्चों की इस रुचि का ध्यान रखते हुए समय-समय पर स्वयं पर्यटन के लिए ले जाना चाहिए। इनसे बच्चे की जिज्ञासा और उत्सुकता का समाधान तो होगा ही व्यक्तित्व विकास और ज्ञान संवर्धन में भी समुचित योगदान मिलेगा।

बच्चों का घर से भाग जाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने में सिनेमा का सर्वाधिक हाथ रहा है। नयी पीढ़ी को दिग्भ्रांत करने का प्रमुख दोषी सिनेमा ही है। जनमानस की पशु प्रवृत्तियों को भड़काने तथा निकृष्ट गतिविधियों को अपनाने के लिए सिनेमा ही निरंतर बाध्य कर रहा है। समाज का अनिवार्य अंग बच्चा भला इससे कैसे अछूता रह सकता है। सिनेमा वर्तमान समय में अपराधों की वृद्धि में किस प्रकार सहयोग दे रहा है, इसका वर्णन मद्रास के चीफ मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने एक मुकदमे में कहा था—"सिनेमा इस युग का अभिशाप है। इसने मानवीय कुलों में रहने वाले असंख्य लड़के एवं लड़कियों के भविष्य को अंधकार के गर्त में सदा के लिए डाल दिया है।"

शहरों की चकाचौंध एवं काल्पनिक प्रसंगों ने किशोरों को उनके स्वाभाविक जीवन से अलग कर दिया है। इसके माध्यम से किशोर एवं किशोरियाँ बिना अपनी प्रतिभा, क्षमता एवं परिस्थितियों पर विचार किए भावुकतावश स्वयं भी हीरो-हीरोइन बनने के लिए परिवार और समाज के सारे नैतिक बंधनों को तोड़कर निकल जाते हैं और जब वास्तविकता के धरातल पर पैर रखते हैं तो निराशा ही हाथ लगती है। लोगों द्वारा व्यंग्य कसे जाने एवं शर्म के कारण तो वापस आ नहीं सकते। मजबूरीवश जीवन के बाकी दिन भीख माँगकर, जेबकटी, वेश्यावृत्ति, चोरी जैसे अनैतिक कार्यों में पूरे करते हैं।

बच्चे राष्ट्र की अमूल्य निधि होते हैं। परिवार एवं समाज की उनसे बड़ी अपेक्षाएँ होती हैं। घर से पलायन करने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए माता-पिता से लेकर समाज के अग्रणी नेतृत्व करने वाले व्यक्ति एवं शिक्षा-शास्त्री बच्चों की इच्छाओं-अपेक्षाओं एवं रुचि पर ध्यान दें, तद्नुरूप साधन उपलब्ध करें, तभी इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोका जाना संभव है।

❑❑

संयुक्त परिवार व्यवस्था को जीवंत बनाए रखें

सृष्टा के 'एकोऽहं बहुस्यामि' के उद्घोष के साथ ही सृष्टि का शुभारंभ माना जाता है। आत्म विस्तार का यह संकल्प सृष्टि के कण-कण और अणु-अणु में परिलक्षित होता है। अपने ही सौर परिवार के ६ ग्रहों और अन्यान्य उपग्रहों की उत्पत्ति सूर्य से हुई है। सभी संयुक्त सूत्र में बँधे गुँथे अनंत काल से अनुशासन बद्ध मर्यादित और कार्यरत हैं। किसी में न टकराव है, न बिखराव। सृष्टा ने मनुष्य से भी यही आशा अपेक्षा की है कि वे संयुक्त संघ बद्ध एक-दूसरे के परस्पर पूरक सहायक, सहयोगी बनें। यही मनुष्य जाति की उन्नति का मूल मंत्र है। संगठनात्मक प्रयासों से ही मनुष्य को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। यदि प्रारंभ से ही व्यक्तिवाद, स्वार्थपरता, संकीर्णता, अलगाव, टकराव बना रहा होता तो पाषाण युग से अधिक प्रगति के सुअवसर देखने को न मिलते। यदि सृष्टि के आरंभ से ही आदमी कबीले, समूह और झुंड बनाकर संयुक्त न रहा होता तो अपने अस्तित्व को बनाए रखने में भी समर्थ न हो पाता और उसे प्रागैतिहासिक काल के दैत्याकार जीव जंतुओं ने उदरस्थ कर लिया होता। यही झुंड और कबीले प्रगति करते-करते कालांतर में परिवार, संयुक्त परिवार, ग्राम समूहों में परिवर्तित होते चले गए।

भारत में परिवार व्यवस्था हजारों वर्ष पुरानी है। यद्यपि पराधीनता के अंधकार युग में अनेक विदेशी सभ्यताओं ने यहाँ की संस्कृति पर भी अपना प्रभाव डाला, जिससे यहाँ की संयुक्त परिवार व्यवस्था बड़ी तेजी से विघटित और विशृंखलित हुई है। भारतीय परिवार मात्र सहयोग और सहनिवास ही नहीं वे एक सहकारी संस्था हैं। यों मिल-जुलकर तो लोग होटल और धर्मशालाओं में भी रह लेते हैं और सह निवास के कुछ नियम मर्यादाओं का निर्वाह भी करते हैं,

किंतु ऐसा सहकार सीमित और सामयिक होता है। इनमें परिवार जैसी आत्मीयता नहीं होती। भारतीय परिवारों में वास्तविक समाजवाद का दर्शन किया जाना संभव है।

पश्चिमी देशों में परिवार मानव जीवन की सीमित आवश्यकताओं को लेकर जुड़े और विकसित हुए हैं। उनमें भारत जैसा भावनात्मक लगाव, उदार आत्मीयता नहीं होती। भारतीय परिवारों में भाव संवेदनाओं को अनेक रूपों में आज भी न्यूनाधिक रूप में देखा जा सकता है जब कि विश्व भर में संयुक्त परिवार व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चली है। मानव के भाव जगत के बहु आयामी रूपों को यहाँ की संयुक्त परिवार व्यवस्था में देखा जा सकता है, जहाँ माता, पिता, बाबा, दादी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और उनका वात्सल्य, स्नेह, भाई-भाई का निस्वार्थ अनूठा प्रेम और त्याग, भाई-बहिन की आत्मानुशासित मर्यादाओं और अंतरंग स्नेह, नंद, भाभी, सास, बहू, देवर, जेठ, जेठानी, देवरानी, चाचा, चाची, ताऊ, बुआ, भतीजे आदि का बहु आयामी दृश्य देखकर सहज ही कहा जा सकता है कि भाव संवेदनाओं के विस्तार में ही आनंद है न कि सिकोड़ने, समेटने में। जीवन जीने का असली आनंद संयुक्त परिवार व्यवस्था में है न कि एकाकी जीवन में। पश्चिमी जगत की पति-पत्नी और बच्चे वाली व्यवस्था में ऐसा भाव संवेदनाओं, प्रेम, स्नेह, ममता, उदार आत्मीयता का सौजन्य पूर्ण वातावरण नहीं है। इसी लिए दुनियाँ में कुछ भी इतना रुखा और संकीर्ण नहीं, जितना कि पत्नी तथा बच्चे तक सिमटी-सिकुड़ी परिवार व्यवस्था।

संयुक्त परिवार व्यवस्था वस्तुतः मनुष्य के जीवन दर्शन का एक अंग है इसमें व्यक्तिवादी कुंठाएँ और अभाव नहीं पनपने पाते। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की असीम संभावनाएँ सन्निहित हैं। सम्मिलित परिवारों में सुख-सुविधाओं और उन्नति के जो अवसर उपलब्ध हो सकते हैं वे एकाकी व पृथक् परिवारों में नहीं। भारतीय संस्कृति सदैव ही सम्मिलित परिवारों के आदर्शों को प्रोत्साहित करती रही है, किंतु कुछ समय से संयुक्त परिवार व्यवस्था का ह्रास होने लगा है जिसका स्थान छोटे एकाकी परिवार (पति-पत्नी एवं बच्चे)

लेते जा रहे हैं। इसीलिए सुख, शांति के मूल सिद्धांत और आदर्श भी लुप्त होते जा रहे हैं।

ससीम से असीम, क्षुद्र से महान, स्वार्थी से संतोषी बन पाना संयुक्त परिवार प्रणाली में ही संभव है। इस व्यवस्था में विकास एवं विस्तार की संभावनाएँ अधिक हैं। जो जितना विकसित है उसकी आत्मीयता उतनी ही व्यापक होगी। क्षुद्रता की जकड़ से मनुष्य आत्म केंद्रित बना रहता है। वह संपर्क भले ही बहुतों से रखता हो, किंतु स्वार्थ वश अपना लाभ हर समय उसकी दृष्टि पर छाया रहता है। परिवार उच्च स्तरीय दार्शनिकता है। घर परिवार में हर समय एक-दूसरे के काम आने में त्याग-बलिदान की भावना रहती है। यही स्नेह सूत्र परिवार को एक-दूसरे से बाँधे गुंथित किए रहते हैं। एकाकी मनुष्य अथवा एकाकी परिवारों में संयुक्त परिवारों के मुकाबले आत्मीयता, त्याग, बलिदान की भावना नहीं विकसित हो पाती। आज तो हानि लाभ की दृष्टि से प्रत्येक व्यवस्था का मूल्यांकन किया जाता है।

हानि लाभ की दृष्टि से भी संयुक्त परिवार व्यवस्था में आज़ की स्थिति में लाभ अधिक, हानि नगण्य हैं। एकाकी परिवारों की अपेक्षा संयुक्त परिवारों के आवास निवास भोजन, वस्त्र पर औसत कम खर्च आता है और आज की कमर तोड़ महँगाई में मकान किराया या बिजली, ईंधन, तेल आदि के खर्चों में भारी किफायत की जा सकती है। यदि परिवार के सभी परिजन माँ-बाप, भाई-बहिन अलग-अलग रहें, पकाएँ-खाएँ तब उस व्यवस्था में दुगुना, चौगुना व्यय अधिक होना स्वाभाविक है। संभ्रांत परिवार यदि संयुक्त बने रहें तब तो उनके खर्चों में और भी भारी किफायत की जा सकती है। जैसे संयुक्त परिवार में रेडियो, लाइब्रेरी तथा निर्वाह के साधनों आदि से काम चल सकता है। इसके अतिरिक्त कितने ही प्रकार के टैक्सों में किफायत और रियायत, सुविधा और सरलता हो सकती है।

उदाहरण के लिए दिल्ली जैसे महानगर में ही यदि पचास हजार परिवारों को संयुक्त बने रहने के लिए सहमत किया जा सके तो पाँच हजार आवासीय फ्लेटों की बचत की जाकर पच्चीस हजार ऐसे लोगों

को बसाने की व्यवस्था की जा सकती है जो फुटपाथों, प्लेटफार्मों, धकेल गाड़ी, रिक्शा अथवा पेड़ों की छाया में सोकर सर्दी, गर्मी, बरसातें बिताते हैं। इन्हीं परिवारों पर खर्च होने वाली रोशनी, पंखे, कूलर, फ्रीज, हीटर आदि से इतनी बिजली की बचत की जा सकती है जिससे १ हजार ग्रामीण ट्यूब वैलों को निरंतर विद्युत सप्लाई की जा सके, जिससे चार हजार एकड़ असिंचित भूमि को सिंचित बनाया जाकर बीस हजार टन अतिरिक्त अन्न उत्पादन किया जा सके। इन्हीं परिवारों के खाने-पकाने के लिए ऊर्जा पर खर्च होने वाले व्यय से बचत की जाकर एक सुनहरी खाद का कारखाना सरलता से चलाया जाकर १० लाख टन खाद प्रतिवर्ष प्राप्त की जा सकती हैं जिससे दिल्ली प्रांत के सब्जी उत्पादक कृषकों की खाद की आवश्यकता पूरी की जा सकती है। इन्हीं परिवारों में अलग-अलग वाहनों पर खर्च होने वाले पेट्रोल, डीजल को बचाकर प्रतिवर्ष करोड़ों की विदेशी मुद्रा की बचत की जा सकती है।

संयुक्त परिवारों में यदि कोई कभी रोगी अथवा दुर्घटना ग्रस्त हो जाए अथवा किसी महिला को प्रसवासन्न जैसी अवस्था में अथवा किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना पड़ जाए तो एक-दूसरा उस जिम्मेदारी को स्वतः सँभाल लेता है। यदि असमय में ही पति अथवा पत्नी में से एक की मृत्यु हो जाए तब तो एकाकी परिवारों पर वज्रपात ही हो जाता है। उनके बच्चों के भूखा मरने, जेल भुगतने जैसा अवसर आ खड़ा होता है। ऐसे में बेसहारों को कौन सहारा दे, किंतु संयुक्त परिवारों में किसी को कहने की आवश्यकता नहीं होती, उनकी व्यवस्था स्वतः बन जाती है। विवाह शादी, सुख-दुःख के अवसरों पर एकाकी परिवारों की अपेक्षा संयुक्त परिवार में अच्छी व्यवस्था बन जाती है।

संयुक्त परिवार व्यवस्था हर दृष्टि से लाभकारी है। वर्तमान संदर्भ में जब आदमी अंदर से शुष्क होता चला जा रहा है, शहरीकरण बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, इसकी उपादेयता और भी अधिक हो जाती है। उदार आत्मीयता का विस्तार, मिल-बाँटकर खाने की वृत्ति, सहयोग सहकार का शुभारंभ संयुक्त परिवार व्यवस्था से किया जाए तभी सारी विश्व वसुधा को एक धागे में पिरोने की एक सुव्यवस्थित कुटुंब की तरह बनाने की कल्पना साकार की जा सकती है।

❑❑

वृहत् परिवार पनपें—पारस्परिक सौहार्द्र बढ़े !

देशकाल की आवश्यकता के अनुरूप मनुष्य के चिंतन में समय-समय पर परिवर्तन आता रहा है। विचारकों एवं चिंतकों ने युग की माँग को देखते हुए अनेक प्रकार के विचार दिए हैं जो अपने समय में समाज के नव निर्माण एवं विकास में विशेष रूप से सहायक रहे हैं। अविकसित समाज के लिए कभी राज-तंत्र, शासन व्यवस्था के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध हो चुका है, पर अब उसकी उपयोगिता जाती रही। जिन देशों में वह प्रणाली विद्यमान है, देर-सबेर जाग्रत जन मानस उसे समाप्त कर ही देगा। डिक्टेटर शिप राजतंत्र का ही बदला हुआ रूप, कुछ समय बाद प्रकट हुआ। रूस, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में कुछ समय तक वह भी सफल रहा। युग की माँग ने क्रांतियों को जन्म दिया और समाज ने उस निरंकुश शासन व्यवस्था को उखाड़ फेंका, थोड़े समय के हेर-फेर से कितने ही देशों में क्रांतियाँ हुईं। रूस तथा जर्मनी से शनैः शनैः डिक्टेटर शिप प्रणाली समाप्त हुई।

शासन प्रणाली में हेर-फेर आगे भी चलता रहा। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में समाजवादी विचारधारा की हवा चली और वह प्रचंड होती चली गयी। प्रजातंत्र और साम्यवाद भी समाज व्यवस्था के रूप में उभरकर आए जिन्होंने विश्व के अधिकांश देशों को प्रभावित किया। पूँजीवाद भी समाजवाद की आड़ में साँस लेता रहा और आज भी किन्हीं-किन्हीं देशों में अपना अस्तित्व किसी न किसी रूप में बनाए हुए है, पर कल नहीं तो परसों वह भी दुनिया से सिर पर पैर रखकर भागने वाला है। विश्व मानव यह अनुभव करने लगा कि बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उसकी माँगों की पूर्ति पूँजीवादी व्यवस्था के रहते समुचित ढंग से नहीं हो सकती। कुछ व्यक्ति अमीर बनते जाएँ और कुछ को एक समय की रोटी

भी नसीब न हो, मानवता को अब यह मंजूर नहीं। जिन्होंने किसी तरह विपुल संपत्ति एकत्रित कर ली है और उसे दबाए हुए हैं, देर-सबेर उन्हें स्वेच्छा अथवा अनिच्छा से समाज को समर्पित करना होगा। जाग्रत विश्व मानस अगले दिनों जबरन उन्हें यह कदम उठाने को बाध्य करेगा।

युग की आवश्यकता के अनुरूप दो प्रणालियाँ अधिक लोकप्रिय हो रही हैं लोकतंत्र और साम्यवाद। दोनों के मौलिक सिद्धांतों में थोड़ा अंतर है अन्यथा लक्ष्य एक ही है—समाजवादी व्यवस्था कायम करना। दोनों में से उपयोगी कौन है यह विवादास्पद विषय है। संबद्ध विषय का विश्लेषण करना यहाँ अपना लक्ष्य नहीं है। वादों की चर्चा इसलिए करनी पड़ी ताकि उनमें समाहित समाज निर्माण के कुछ उपयोगी सिद्धांतों की व्याख्या की जा सके जो समस्त मानव जाति के लिए उपयोगी हैं, उदाहरणार्थ कम्युनिज्म की कम्यून प्रणाली सिद्धांततः एक ऐसी सुंदर व्यवस्था है जो समाज के पुनर्गठन में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकती है।

तीन देशों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने कौटुंबिक समाज व्यवस्था को साकार रूप प्रायोगिक रूप में देना आरंभिक कर दिया है। इजराइल, क्यूवा और चीन, इन देशों में संयुक्त जीवन के छुट-पुट प्रयोग चल पड़े हैं। इजराइल एक छोटा-सा देश है जिसकी आबादी मात्र डेढ़ करोड़ है इसने इस दिशा में प्रेरक उदाहरण प्रस्तुत किया है। संयुक्त कौटुंबिक प्रणाली के आधार पर जीवन यापन कर रहे समुदाय को इजराइल में क्युत्सा या दगेनिया कहते हैं। इसका प्रथम प्रयोग फिलस्तीन में १९१० में आरंभ किया गया। संयुक्त रूप से कृषि फार्मों में काम करने तथा उत्पादन का आवश्यकतानुसार उपयोग करने का यह अभिनव प्रयोग छोटे स्तर पर सीमित व्यक्तियों को लेकर किया गया, पर वह अत्यंत सफल रहा। यह आरंभिक प्रयास इजराइल वासियों के लिए प्रेरक बना। उन्होंने सोचा कि एकाकी रहने और संपदा का अकेले उपभोग करने की नीति भले ही तात्कालिक अच्छी लगे, पर समाज के लिए वह अत्यंत हानिकारक है।

उपयोगी विचारधाराएँ और व्यवस्थाएँ देर-सबेर वरेण्य होती हैं। यह सिद्धांत अक्षरशः सही उतरते इजराइल में देखा गया। इजराइल की राजनीति—अंतर्राष्ट्रीय नीतियाँ क्या हैं, कितनी उचित हैं, इस विवाद में पड़ना अपना उद्देश्य नहीं है। किसी भी राष्ट्र की आंतरिक गृह व्यवस्था कैसी आदर्श होनी चाहिए, उसके नमूने के रूप में यहाँ एक चर्चा की जा रही है।

कम्यून व्यवस्था पर आधारित दर्गेनिया के प्रयोग से अन्यों को प्रेरणा मिली। अन्य स्थानों पर भी इस प्रकार के सामूहिक जीवन पद्धति के प्रयोग आरंभ हो गए। एक आँकड़े के अनुसार सन् १९६० तक ऐसे गाँवों की संख्या पाच सौ तक जा पहुँची जहाँ कम्यून प्रणाली की जीवन पद्धति को लोगों ने सहर्ष स्वीकार किया। अनुमान है कि इजराइल के एक हजार गाँव संयुक्त कौटुंबिक प्रणाली की व्यवस्था द्वारा परिचालित हैं। लगभग पाँच लाख व्यक्ति दर्गेनियाँ में संयुक्त रूप से रहते हैं। एशिया के पश्चिमी छोर पर प्रतिकूलताओं के बीच जूझते हुए इजराइल जैसे छोटे-से राष्ट्र ने संयुक्त जीवन क्रम का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह अद्‌भुत है। संकीर्ण स्वार्थ परता से विरत होकर एक वृहत्तर परिवार को अंगीकार करने का यह प्रयास अपने में बेमिसाल है। दर्गेनिया ने अनेक प्रकार की समस्याओं का एक व्यावहारिक हल प्रस्तुत किया है।

इजराइल की अपनी एक अनोखी संस्कृति है। यहूदी एक सदी पूर्व तक सारी दुनिया में बिखरे हुए थे। हर देश में उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। ऐसी हालत में यहूदियों को संगठित करने के लिए 'जीयोनिस्ट' नामक संगठन खड़ा हुआ जिसका लक्ष्य था समस्त यहूदी जाति को एकत्रित करना तथा फिलस्तीन राष्ट्र में बसाना। अभियान का प्रतिफल यह निकला कि फिलस्तीन में संसार के कोने-कोने से यहूदी युवक-युवतियाँ एकत्रित होने लगे। आर्थिक विपन्नता अवरोध बनकर सामने आयी, पर श्रमनिष्ठ राष्ट्र का निर्माण उनका प्रमुख लक्ष्य था। युवा वर्ग ने कम्यून सह जीवन की प्रणाली को सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास के लिए श्रेयष्कर माना।

हिल-मिलकर रहने, काम करने और अपनी रोटी मिल बाँटकर खाने की उन्होंने सद्भाव भरी नीति अपनायी। इस तरह आवश्यकता आविष्कार की जननी बनी और सामुदायिक सह जीवन की नींव पड़ी। यह प्रणाली कालांतर में इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि स्थान-स्थान पर गाँव-गाँव में सहजीवन के प्रयोग चलने लगे। समाज शास्त्रियों का मत है कि इजराइल को एक संगठित एवं मजबूत राष्ट्र के रूप में विकसित करने का सबसे अधिक श्रेय कौटुंबिक सहजीवन प्रणाली को है।

चीन में भी किसानों के अलग-अलग कम्यून हैं। कार्य क्षेत्र दो भागों में बाँटा हुआ है। प्रोडक्शन टीम अन्न उत्पादन का कार्य संयुक्त रूप से करती है। प्रोडक्शन ब्रिग्रेड उत्पादित माल को वितरित करती है। नवीनतम आँकड़ों के अनुसार चीन में कम्यूनों की संख्या ६० हजार से लेकर ८० हजार तक है। प्रत्येक कम्यून में सदस्यों की संख्या एक जैसी नहीं होती। कृषि के लिए उन्हें जो जमीन मिलती है उसकी मात्रा सदस्यों की संख्या के ऊपर निर्भर करती है। कम्युनिस्ट सरकार होने के कारण चीन की कम्यून व्यवस्था उसके ही नियंत्रण में है। कृषि के सामूहिक प्रयोग से चीन का उत्पादन कुछ ही दशकों में असामान्यगति से बढ़ा है। अन्न के क्षेत्र में आज चीन आत्मनिर्भर है। इसका प्रमुख श्रेय उस सहजीवन के प्रयोग को है। क्यूवा में भी इस तरह के कम्यून स्थान-स्थान पर बने हैं। उनके सदस्य एक साथ रहते, साथ-साथ काम करते तथा उपार्जित संपदा को मिल-बाँटकर उपभोग करते हैं।

संयुक्त जीवन क्रम के लार्जर फैमिली के प्रयोग अपने यहाँ भी चल पड़ें तो इसके कितने ही लाभ हैं। छोटी-छोटी जोतों के कारण समय, श्रम और संपदा का एक बड़ा भाग व्यर्थ चला जाता तथा उत्पादन भी गिरता है। सामूहिक खेती करने की परंपरा शुरु हो जाए तो इससे उत्पादन तो बढ़ेगा ही, समय, श्रम और धन की बचत होगी। बड़े परिवार अपने देश में कुछ दशकों पूर्व तक समस्त विश्व के लिए एक आदर्श थे, पर वे टूटते गए

और अब उनका यत्किंचित उदाहरण ही देखने को मिलता है। उनका पुनर्गठन नवीन परिस्थितियों में कर सकना संभव है, हर व्यक्ति अपनी रोटी स्वयं पकाये इसके स्थान पर सामूहिक व्यवस्था बना सके तो इससे हर व्यक्ति को लाभ पहुँचेगा। दूसरे देशों ने अपने ढंग से सहजीवन के प्रयोग आरंभ किए हैं। उनसे प्रेरणा लेकर देश को परिस्थितियों के अनुरूप गैर सरकारी स्तर पर भी देहातों एवं शहरों दोनों ही स्थानों पर कृषि उद्योग ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी कम्यून प्रणाली के सृजनात्मक प्रयास आरंभ किए जा सकते हैं।

इजरायल, क्यूवा व चीन के उदाहरण हमारे सामने हैं संयुक्त कुटुंब प्रथा तो भारत की सांस्कृतिक धरोहर है। इस राष्ट्र के स्वर्ण युग के दिनों में नैतिक मूल्यों की पराकाष्ठा का मूल कारण था—वृहत परिवार। न कहीं कोई मुकदमा होता था, न गृह कलह। सभी कुछ निपटारा उस वृहत परिवार की परिधि में हो जाया करता था। आज भी इस देश में यह प्रथा जहाँ-जहाँ भी जीवित है, वहाँ सुख-समृद्धि के साथ शांति-उल्लास भरा स्वर्ग जैसा दृश्य देखा जा सकता है। वृहत परिवार मात्र अपने कौटुंबिक सहजीवियों का ही हो यह अनिवार्य नहीं। वह तो एक समूह विशेष का भी हो सकता है, कार्य के आधार पर उस वर्ग विशेष का भी। सहकारी प्रयोगों के लाभों की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। वस्तुतः सहकारी स्तर पर 'लार्जर फेमिली' के स्वरूप को अपनाकर ही हम 'वसुधैव कुटुंबकम्' के स्वप्न को साकार करने की बात पर विचार कर सकते हैं। यह कोई असंभव दुष्कर कार्य नहीं है। पहले राष्ट्र के स्तर पर, फिर महाद्वीप के तथा फिर विश्व के स्तर पर इस प्रकार के कम्यून्स बनाए जा सकते हैं जो विश्व परिवार के लघु संस्करण हों। वर्तमान राष्ट्रों की सीमाएँ तो कृत्रिम हैं—मानव-निर्मित हैं। भावनाओं के स्तर पर इन सीमा बंधनों को तोड़कर विश्व परिवार बसाने की बात सोची जाए और उसे क्रियान्वित करने के प्रयास विशाल स्तर पर चल पड़ें तो फिर विश्व शांति मात्र एक व्याख्यान या लेखन का विषय

नहीं—वास्तविकता बन जाएगा। जब तीन राष्ट्र जो विश्व की लगभग एक चौथाई आबादी के बराबर हैं, ऐसा सोच व कर दिखा सकते हैं तो शेष के लिए यह कोई असंभव कार्य नहीं। विचारशील व्यक्ति जुट पड़ें तो यू. एन. ओ. शांति सम्मेलनों के प्रयास एक तरफ रखे रह जाएँगे और कम्यून व्यवस्था एक ओर। यदि ऐसा हो सके तो सचमुच यह विश्व वसुधा के लिए एक सौभाग्य भरा वरदान होगा।

❐❐

परिवार संस्था की एक सुनिश्चित आचार संहिता

पारिवारिक सौजन्य एवं उसके घटकों में परस्पर तालमेल ही इस संस्था को सशक्त-समर्थ बनाता है। समाज निर्माण तब तक अकल्पनीय हैं, जब तक कि उसकी एक इकाई परिवार शालीनता जैसे सद्गुण से रहित है। राष्ट्र निर्माण के सारे साधन-उपाय निरर्थक ही हैं, यदि परिवार संस्था की उपेक्षा कर मात्र अर्थ साधनों एवं सुविधाओं पर ध्यान दिया जाता है। इस महत्त्वपूर्ण घटक की उपेक्षा—अवहेलना ही किसी राष्ट्र के पतन का कारण बनती है। चाहे बाहर से दीखने में कोई भी समाज कितना ही समृद्ध क्यों न हो, जब तक परिवार व्यवस्था का समुचित तंत्र सभ्यता, शिष्टाचार, सद्व्यवहार जैसी प्रवृत्तियों से रहित है, उसके आधार खोखले ही हैं। ब्लड कैंसर का रोगी बाहर से दीखने में स्वस्थ नजर आता है। यह उसकी चिकित्सा करने वाला चिकित्सक व रोगी ही जानता है कि बहिरंग से स्वस्थ यह व्यक्ति किस प्रकार पल-पल मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा है, जीवनी शक्ति उसकी पूरी नष्ट हो चुकी है। बहुत कुछ यही बात परिवारों पर भी सही उतरती है। इसके विभिन्न सदस्यों में कलह, मन-मुटाव, असामंजस्य अंततः विघटन की पारिवारिक अशांति व मनो आत्मिक रोगों तथा सामाजिक अव्यवस्था को जन्म देती है।

परिवार के हर सदस्य को इसीलिए उन तथ्यों से भली प्रकार अवगत कराना चाहिए, जिनसे उनके कर्त्तव्य एवं अधिकारों की मर्यादा का निर्धारण होता है। संसार का गतिचक्र आदान-प्रदान के आधार पर चलता है। प्राप्त करना अधिकार है, किंतु उसका मूल्य चुकाना कर्त्तव्य। दोनों के मध्य सुनियोजित तालमेल हो तो गतिचक्र अपनी धुरी पर ठीक प्रकार चलता रहता है।

एक दीपक से अपना अथवा दूसरों का विनाश हो सकता है। सृजन और अभिवर्धन के लिए समन्वय की शक्ति ही कारगर सिद्ध हो सकती है। इतना जान लेने पर दूसरा तथ्य यही सामने आता है कि समन्वय सहयोग के मूल में आदान-प्रदान का सिद्धांत काम करता है। एक पक्षीय अनुदान, आदर्श एवं अपवाद भी हो सकता है, उसे प्रचलन के रूप में मान्यता नहीं मिल सकती। अधिकार की माँग करना और आशा रखना तभी सार्थक हो सकता है जब कर्त्तव्य पालन के लिए उससे भी अधिक उत्साह दिखाया जाए। अधिक इसलिए कि कर्त्तव्य पालन अपने हाथ में है और अधिकार देना दूसरों के। जो अपने वश की बात है उसे तो निश्चित रूप से किया ही जा सकता है। प्रतिफल न मिले तो भी इसमें आत्म गौरव और आत्म संतोष का असाधारण लाभ तो मिलता ही रहता है। भौतिक अधिकार न मिलने पर भी यह आत्मिक उपार्जन इतना बड़ा है कि उसमें भावनाशील हमेशा लाभ ही देखते हैं घाटा नहीं।

परिवार भी एक प्रकार से सहकारी संस्था है। इसमें हर व्यक्ति एक-दूसरे को देता है, साथ ही कुछ पाने की अपेक्षा भी रखता है। अभिभावक बच्चों को पालते हैं, उनके लिए कष्ट उठाते और खर्च करते हैं। साथ ही उनसे कुछ आशा अपेक्षा भी रखते हैं। सम्मान और अनुशासन उनकी तात्कालिक माँग है और बड़े होने पर सेवा सुश्रुषा के रूप में प्रतिदान की अपेक्षा रखना बाद की। दोनों एक-दूसरे की सद्भाव संपन्न सेवा सहायता करें, यह तो बहुत ही ऊँची और अच्छी बात है, पर इतना तो व्यवहार बुद्धि से भी सोचा जा सकता है कि पाने वाले को बदला चुकाने से ही ऋण भार से मुक्ति मिल सकती है। न चुकाने पर तो ऋण भार का दबाव इतना बोझिल रहता है कि उसकी आत्मा ही कुचल जाती है।

पत्नी व्रत और पति व्रत धर्म यों निभा तो एक पक्ष की आदर्शवादिता भी लेती है, पर वह विशिष्टों का कीर्तिमान है। स्वाभाविक और व्यावहारिक यही है कि दोनों एक-दूसरे के समर्पण सहयोग का महत्त्व समझें, अनुग्रह के लिए कृतज्ञ रहें और हर घड़ी बदला चुकाने का अवसर खोजें। यह आदान-प्रदान जहाँ यथावत

रहेगा, वहाँ मैत्री निभेगी भी और बढ़ेगी भी, किंतु जहाँ एक पक्ष ने मात्र अधिकार की रट लगायी और कर्त्तव्य की उपेक्षा की, समझना चाहिए कि खाई बढ़ेगी और प्रीति के स्थान पर विवशता और कटुता ही शेष रह जाएगी। स्वामी और सेवक, व्यापारी और ग्राहक, मित्र और मित्र, गुरु और शिष्य, देवता और भक्त प्रायः इसी आधार पर एक-दूसरे के सेवक सहयोगी बनकर रहते हैं। एक के हाथ खींच लेने पर दूसरे का बढ़ा हुआ हाथ भी निरर्थक ही सिद्ध होगा। समुद्र और बादलों के बीच देने और लौटाने की नीति ही अनादि काल से उन्हें सहयोग सूत्र में बाँधे हुए है। धरती पौधों को एक हाथ से खुराक देती है, पर बदले में दूसरे हाथ से खाद और गोबर के रूप में उनसे प्रतिदान वापस माँगती है। जिस दिन इस आदान-प्रदान में व्यवधान उत्पन्न होगा, उस दिन न पौधों की हरीतिमा जीवित रहेगी और न धरती की उर्वरता।

परिवार का भावनात्मक महत्त्व जो भी है, प्रत्यक्षतः वह एक सहकारी संस्था है, जिसके हर घटक को अधिकार मिलता है। साथ ही यह शर्त भी जुड़ी रहती है कि उसे समयानुसार उसका प्रतिदान भी लौटाना होगा। इस लौटाने में जो जितनी आनाकानी करता है, वह उतना ही निकृष्ट बनता और जिसे जितनी उतावली रहती है, वह उतना ही उत्कृष्ट ठहरता है।

यह भी जरूरी है कि अभिभावक अपने आश्रितों पर इतना ऋण न लादें, जिसे वे चुका न सकें और इस बोझ से उनके उत्तराधिकारी आत्म प्रताड़ना सहते दिखाई दें। अनावश्यक अनुदान कभी किसी को फलते नहीं। अति का भोजन कष्टकारक होता है और अति का अनुग्रह दुर्गुणों दुर्भावनाओं के रूप में उभरता है। अकर्मण्यता और अहंकारिता तो इसमें बढ़ती ही है। अस्तु बुद्धिमान अभिभावकों के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आश्रितों को स्वावलंबी और सुसंस्कारी भर बनाएँ। उन पर अनावश्यक संपदा का इतना बोझ न लादें जिसे पाकर वे उपार्जन की चिंता से ही मुक्त हो चलें और खाली समय और व्यर्थ संपत्ति को दुर्व्यसनों में गँवाकर अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारें।

परिजनों का भी कर्त्तव्य है कि संपन्न अभिभावकों से उत्तराधिकार में संपदा की माँग न करें। पारिवारिक निर्वाह का यदि कोई व्यवसाय तंत्र चलता है तो उसे संयुक्त रूप से अक्षुण्ण रखा जा सकता है। असमर्थ आश्रितों को भी निर्वाह साधन संचित संपदा से पाने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त यदि समर्थ व्यक्ति उत्तराधिकार में संपदा की माँग करें तो इसे अनुचित ही ठहराया जाएगा। ऐसा वैभव विशुद्ध रूप से समाज की संपत्ति है। उसे भले ही श्राद्ध के रूप में लौटाया जाए अथवा मृत्यु कर के रूप में, बिना परिश्रम की कमाई और चोरी के कानूनी स्वरूप जो भी हों इनकी मूल प्रक्रिया में कोई अंतर नहीं आता। परिवार के हर सदस्य को आरंभ से ही यह अर्थशास्त्र पढ़ाया जाना चाहिए और स्वावलंबन के लिए उनकी मनोभूमि विकसित की जानी चाहिए।

परिवार एक गाय है, जिसका दूध पीने के लिए ही सब ललचाते रहें, यह अनुचित है। उसके लिए चारा-पानी, धूप, छाँव एवं सुविधा सफाई की जिम्मेदारी भी इन दूध पीने वालों को उठानी चाहिए। परिवार समर्थ होगा तो उसकी छाया का, शोभा का, फल संपदा का लाभ भी मिलेगा अन्यथा सूखे ठूँठ से जगह भी घिरेगी और अड़चन भी पड़ेगी। तरह-तरह की अपेक्षाएँ रखना और फरमाइशें करना तो अनेकों को आता है, पर इस तथ्य को भुला ही दिया जाता है कि इस संस्थान को परिपुष्ट और परिपक्व बनाने के लिए उससे भी बड़ा योगदान होना चाहिए, जो अब तक पाया गया है एवं जो आगे के लिए माँगा जा रहा है। संपन्नता तो एक समर्थ व्यक्ति भी उपार्जित कर सकता है, पर सुसंस्कारिता का वातावरण उत्पन्न करने में हर सदस्य का समुचित योगदान होना चाहिए।

गृहपति कोई भी क्यों न हो, अनुशासन किसी का भी चलता हो। इस दृष्टि से हर सदस्य अपने आप में पूर्ण है कि उसे पारस्परिक स्नेह सहयोग बढ़ाने और सत्प्रवृत्तियों को व्यवहार में उतारने की दृष्टि से अग्रणी रखना है। बड़प्पन इसी में है कि परंपरा का निर्वाह किया जाए, भटकों को राह पर लाने के लिए अपना प्रभावी उदाहरण प्रस्तुत किया जाए।

इसके लिए नितांत नए प्रयोग भी करने पड़ सकते हैं। समीक्षा किए बिना, परामर्श दिए बिना, सुधार संभव नहीं। अपने आप अपनी गलती ढूँढ़ लेने और सुधार लेने वाले तो संत होते हैं, सामान्य नहीं। अतः कुछ बिरले अपवादों को छोड़कर शेष को तो सँभालने, सुधारने और दिशा देने की आवश्यकता रहेगी ही। इसके लिए मध्यवर्ती संतुलित मार्ग निकालना चाहिए और प्रशंसायुक्त निंदा करने की कला सीखनी चाहिए। जिसे परामर्श दिया जा रहा है उसे अपने और उसके बीच घनिष्ठ आत्मीयता और गहरी सद्भावना का विश्वास भी दिलाते रहना चाहिए। समीक्षक के प्रति निंदक और द्वेषी होने की आशंका जगती है अस्तु उसे निरस्त करने के लिए परामर्श देने से पूर्व अपनी सद्भाव संपन्न वरिष्ठता का विश्वास किसी न किसी रूप में अवश्य स्मरण करा देना चाहिए। हर काम में कुछ न कुछ श्रम और मनोयोग लगा ही होता है, उतने की प्रशंसा किए बिना समीक्षा की शुरूआत कभी नहीं करनी चाहिए। जो गलती रही है उससे होने वाली हानि को प्रधानता न देकर उस कल्पना चित्र में रंग भरना चाहिए जो सुधार होने पर संभावना सामने आने की आशा बनती है। वर्तमान भूल से होने वाली हानि की चर्चा परामर्श के अंत में और हलके ढंग से करनी चाहिए ताकि उससे अभीष्ट जानकारी मिलने और सँभलने की सतर्कता तो जग जाए, पर यह अनुभव न हो कि उसे तिरस्कृत किया जा रहा है। जिन परिस्थितियों में भूल होती रही है, उन दोषी परिस्थितियों को बता देने से भी काम बन जाता है। परामर्शदाता का उद्देश्य निंदा करना या जी दुखाना तो होता नहीं, वह सुधार ही तो चाहता है। इस प्रयोजन के लिए व्यक्ति की निंदा करने की अपेक्षा परिस्थितियों का दोष कह देने से भी काम चल सकता है। इसमें मान-अपमान का झंझट भी नहीं रहता, साथ ही परोक्ष रूप से असावधानी की भर्त्सना भी हो जाती है। मंतव्य इतने भर से हल हो सकता है।

परिवार शिक्षण की दृष्टि से घर के बड़े यह परंपरा आरंभ कर सकते हैं कि दिन भर की काम-काजी बातचीत में समय-समय पर हलके-फुलके ढंग से यह परामर्श देते रहें कि किस प्रकार इस कार्य

को अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है। इसमें सिद्धांत और व्यवहार दोनों का जिक्र किया जाए। लड़की यदि आँगन में बुहारी लगा रही है और वह उस कार्य को ठीक तरह नहीं कर पा रही है तो उसे अच्छी तरह सफाई करके दिखानी चाहिए और बताया जाना चाहिए कि भूल कहाँ होती है और उसे दूर करके अच्छी सफाई करने का सिद्धांत और तरीका क्या है ? इसी प्रकार बच्चों द्वारा किए जाने वाले कार्मों को किस प्रकार अधिक सुंदर ढंग से किया जा सकता है, बड़ों को उसका मार्गदर्शन सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही रीति से करते रहना चाहिए। कार्यों की तरह ही विचार प्रकट होते रहते हैं। इस ओर भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि कौन किस संबंध में क्या सोचता है और उसके सोचने में कितना औचित्य तथा कितना अनौचित्य मिला हुआ है ? परामर्श इस संबंध में भी दिया जाना चाहिए।

परामर्शदाता की भूमिका निभाने से पूर्व वाणी की यह कलाकारिता सीखी जानी चाहिए कि दूसरे के सम्मान स्वाभिमान की रक्षा करते हुए—उसे खिजाने की नहीं, प्रोत्साहित करने के ढंग से अभीष्ट शिक्षा किस प्रकार की दी जा सकती है। जो किया जा रहा है उसमें जितना श्रम हुआ है, जितना उत्साह दिखाया गया है उतने अंश की प्रशंसा की जानी चाहिए। इसके बाद जो कमी रही है उसका उल्लेख न करते हुए यह बताया जाना चाहिए कि उस कार्य को और भी अधिक कुशलता, सुंदरता एवं सफलता के साथ किस प्रकार किया जा सकता है।

जिन्हें अपना घर-परिवार सँभालना है। उन सभी सदस्यों को पग-पग पर तो नहीं, पर अवसर देखकर भूलों के लिए टोकने और अधिक अच्छा करने का उपाय बताने की प्रक्रिया अनवरत रूप से जारी रखनी चाहिए। शुभाकांक्षियों के सत्परामर्श देने के यह प्रयत्न किस चट्टान से टकराकर टूटते हैं ? जो इसे जान लेगा वह सामने वाले के सम्मान, अपमान का, संवेदनाओं का समुचित ध्यान रखे रहेगा। फलतः उसका तीर ठीक निशाने पर बैठता रहेगा और यह

शिकायत करने का कोई कारण न रहेगा कि लोग सत्परामर्श भी सुनने मानने को तैयार नहीं हैं।

अतः प्रत्येक विकासोन्मुख परिवार को अपने यहाँ परामर्श गोष्ठी का नियमित रूप से प्रचलन आरंभ कर देना चाहिए। इसे ज्ञान की चर्चा नाम दिया जाए। इसके लिए रात्रि को भोजन से निवृत होने के पश्चात् अवकाश वाला समय अधिक उपयुक्त रहता है। इस प्रचलन की जहाँ उपयोगिता समझी जाए वहाँ भोजन जल्दी बनने और जल्दी खाने की परंपरा डाली जानी चाहिए अन्यथा देर तक यही झंझट चलता रहा तो गोष्ठी में सम्मिलित होने का अवकाश ही न रह जाएगा। बच्चे तो तब तक सो ही जाएँगे।

इस ज्ञान चर्चा गोष्ठी में कथा-कहानियों का सिलसिला आबालवृद्ध सबों को रुचता भी है और पचता भी है। अतः इसमें सम्मिलित होने के लिए न समझाने दबाव डालने की आवश्यकता पड़ेगी न किसी से विशेष आग्रह करना पड़ेगा। सभी उसमें सम्मिलित होने को उत्सुक रहेंगे और कोई ऐसा अनुभव न करेगा कि यह उपदेश प्रवचन का रूखा विषय है और उसे सँभालने, सुधारने के लिए ही सारा सरंजाम खड़ा किया गया है। परोक्ष शिक्षा जितनी सफल होती है उतनी प्रत्यक्ष निर्देश की शैली नहीं। कथा-प्रसंगों का यह उपक्रम वस्तुतः परिवार के लोगों की मनोभूमि एवं चिंतन दिशा परिष्कृत करने का बहुत सरल, सफल और सरस माध्यम है। घर का कोई उत्साही सदस्य इस कार्य को अपने कंधे पर ले सकता है। बदल-बदलकर कई व्यक्ति भी इस कार्य को पूरा करते रह सकते हैं। इससे कहने वाले की वक्तृत्व कला का विकास होगा तथा मनोरंजन एवं दिशानिर्देशन की एक उत्साहवर्धक परिपाटी चल पड़ने से परिवार में स्वस्थ परंपराओं का विकास भी होगा।

घर की छोटी-बड़ी समस्याओं पर परस्पर विचार करते रहने के लिए यह कथा अवसर बहुत उपयुक्त है। घर की व्यवस्था एवं प्रगति के संबंध में हर सदस्य को कुछ करने और कुछ सोचने का अवसर मिले तो इससे उपेक्षा और अन्यमनस्कता की स्थिति दूर होगी। परिवार के विकास में इस प्रकार दिलचस्पी जग सकती है और

जिसका वास्तविक लाभ कुछ ही दिनों में सामने खड़ा दिखाई दे सकता है।

यह आवश्यक नहीं कि हर दिन कहानियाँ ही सुनाई जाएँ। समाचार पत्रों की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, भजन-कीर्तन, रामायण-कथा, पहेलियाँ, प्रश्नोत्तर जैसे कई आधार समय-समय पर बदले जाते रह सकते हैं। जिस घर में इन माध्यमों में से जो अधिक पसंद किया जाए वहाँ उसकी प्रधानता रखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त बड़ी समस्याओं पर ही विचार-विनिमय किया जाए, यह भी कोई आवश्यक नहीं है। कल क्या साग-दाल बननी चाहिए—परसों का त्यौहार किस तरह मनाया जाना चाहिए ? जैसी छोटी-छोटी, हल्की-फुलकी बातों को भी चर्चा का विषय बनाया जा सकता है। अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, सुधार, सुसज्जा जैसे समस्या प्रसंगों की जानकारी घर के सदस्यों को देकर उन्हें पूछा, बताया तथा कुछ सोचने और करने के लिए उत्साहित किया जा सकता है। परिवार में हमारा भी कुछ उत्तरदायित्व योगदान है यह अनुभव घर के सभी सदस्य करने लगें तो उस रुझान एवं सहयोग से परिवार के निर्माण का उत्साहवर्धक पथ-प्रशस्त हो सकता है।

वस्तुतः परिवार संस्था सह जीवन के व्यावहारिक शिक्षण की एक प्रयोगशाला है। इसी कारण गृहस्थाश्रम व कुटुंब व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व मनीषियों द्वारा दिया गया है। इसमें बिना किसी संविधान, दंड विधा एवं सैनिक शक्ति की आवश्यकता पड़े सब सदस्य परस्पर तालमेल से सहकार भरा जीवन बिताते हैं। माता-पिता, पुत्र, पति-पत्नी तथा अन्य नाते-रिश्तों के संबंध किसी दंड के भय पर कायम नहीं होते वरन् वे बुजुर्गों द्वारा स्थापित कुल परंपरा-व्यवस्था व आनुवांशिक संस्कारों पर अधिक निर्भर रहते हैं। प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे का हाथ बँटाने में प्रसन्नता अनुभव करता है। यही सहजीवन की सर्वोपरि आवश्यकता भी है। यहाँ त्याग-सहिष्णुता को स्वेच्छा से खुशी के साथ वहन किया जाता है। वस्तुतः परिवार संस्था में ही 'लार्जर फेमिली कन्सेप्ट' अभिनव आदर्श

समाज की संक्षिप्त झाँकी देखने को मिलती है। कुटुंब संस्था गृहस्थ जीवन का अलौकिक चमत्कारिक स्वरूप है।

गृहस्थ का आधार है वैवाहिक जीवन। विवाह का अर्थ पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार दो शरीरों का मिलन नहीं हृदय आत्मा का, मन की समस्त इच्छाओं का परस्पर एक-दूसरे में विलेय है। यही भारत की विशेषता रही है कि यहाँ विवाह को शारीरिक कामोपभोग का सामाजिक स्वीकृति पत्र कभी नहीं माना गया। प्रेम के लिए एक-दूसरे को समर्पित कर देने का अर्थ है दो हृदयों को निष्कपट व्यवहार सूत्र में पिरो देना। विवाह संयम पूर्वक लेकिन आनंदमय जीवन बिताकर पूर्ण आयुष्य प्राप्त करने का सहज मार्ग है। गृहस्थ धर्म का उद्देश्य है स्त्री-पुरुषों एवं अन्य सदस्यों का ऐसा संयुक्त जीवन जो उन्हें शारीरिक सीमाओं से ऊपर उठाकर परस्पर निष्ठा, आत्मीयता की डोरी में बाँध देता है। ऐसी परिस्थिति में शरीर भले ही कुरूप, रोगी हो जाए, पारस्परिक निष्ठा कभी कम नहीं होती। बहन का भाई के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, माँ का बेटे के प्रति, बाबा-दादी का पूरे संतान समुदाय के प्रति जो उमड़ता हुआ स्नेह देखा जाता है—वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम की परिधि बड़ी व्यापक है एवं वह स्नेहमय, दिव्य, सूक्ष्म आधार स्तंभों पर टिकी हुई है।

गृहस्थ धर्म-कौटुंबिक जीवनक्रम तप और त्याग से भरा हुआ है। गृहस्थी के निर्वाह हेतु किया जाने वाला प्रयत्न किसी तितीक्षा से कम नहीं। परिवार का भार वहन करना—सदस्यों को सहकारिता पूर्वक सुविधा के साधन जुटाना एक कठिन तपस्या है, उससे भी अधिक दुस्तर जो तपोवनों में बैठकर की जाती है। इस व्यवस्था में ही व्यक्ति अपनी अनेक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना सीखता है। यह भारतीय कुटुंब व्यवस्था, चाहे वे हिंदू हों या मुस्लिम, पारसी या ईसाई, में ही देखने को मिलता है कि माँ-बाप स्वयं अपना पेट काटकर भी बच्चों को पढ़ाते हैं—छोटों को आगे बढ़ाते हैं—अपनी जिम्मेदारी पूर्ण रूपेण निबाहते हैं। इसी खदान से सुसंस्कारी नागरिक निकलते हैं एवं इस व्यवस्था से ही जन्म लेती है भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर—आतिथ्य धर्म। मानवी मूल्यों से प्रतिष्ठापित देव

प्रतिमा एवं सही मानों में देवालय देखना हो तो आज भी उसे पुरातन भारत के ग्रामीण परिसर में देखा जा सकता है।

यह एक विडंबना ही है कि बढ़ती आधुनिकता की आँधी व शहरीकरण की आसुरी लीला ने इस व्यवस्था को हानि पहुँचाने का कुछ सीमा तक प्रयास किया है। धीरे-धीरे यह हवा सुदूर अवस्थित उन क्षेत्रों में भी पहुँचती जा रही है, जहाँ निष्पाप-पवित्र भावना के अतिरिक्त था ही कुछ नहीं। परस्पर स्नेह-सद्भाव से भरा समाज तभी विनिर्मित किया जा सकता है जब उसकी इकाई कुटुंब परिवार व्यवस्था को अक्षुण्ण रखा जाए उसमें अंतर्निहित मानवी मूल्यों को आघात न पहुँचने पाए। स्थिति नियंत्रण के बाहर तो नहीं है, पर यह आलोक जन-जन तक पहुँचाना जरूरी है कि सहयोग सहकार भरी परिवार व्यवस्था ही सुख-शांति से युक्त समाज का मूल आधार है।

❐❐

गृहस्थ एक तपोवन है, जीवन-साधना इसी में रहकर करें

विवाह भी सृष्टि के अन्य प्रयोजनों की तरह एक छोटा-सा अनुबंध है जिसमें महत्ता हर व्यक्ति की अपनी ही रहती है। अपने भाग्य और भविष्य का निर्माण हर किसी को अपने हाथों ही करना होता है। परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मनःस्थिति के अनुरूप होती है। विवाह को सफल बनाने में साथी जितना योगदान देता है उससे असंख्य गुनी भूमिका अपनी होती है। विवाह करना हो तो साथी से अनुकंपा एवं अनुकूलता की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए वरन यह मानकर चलना चाहिए कि किसी अनाथ असहाय को सक्षम, समर्थ बनाना है और इसके लिए उदारतापूर्वक अनुदान देते रहना है। इससे कम में न तो मित्रता निभती है और न साथ रहने का आनंद मिलता है। साथी के सद्व्यवहार की अपेक्षा करते रहने से तो संतोष की आशा धूमिल ही बनती जाएगी, जिस प्रकार अपना मन दूसरे पक्ष की सहायता से सुखी बनना चाहता है—अपने में न तो कुछ दोष दिखाई पड़ता है और न बदलने जैसा कोई स्वभाव दीखता है। हो सकता है साथी की मनःस्थिति भी वैसी ही हो और वह हमीं से तरह-तरह की आशा अपेक्षाएँ सँजोये बैठा हो।

अब प्रश्न उठता है कि जब अनुदानों की वर्षा कर सकने योग्य क्षमता उत्पन्न करने पर ही विवाह की सफलता निर्भर है और जीवन रस समर्पण करने पर ही मित्रता निभने का आनन्द मिलता है तो विवाह किया भी जाए या नहीं ? इस प्रश्न का दुहरा उत्तर है—जो आत्म निर्भर नहीं हैं वे अंधे-पंगे की जोड़ी मिलाकर किसी तरह अपना काम चलाएँ और विवाह करके भौतिक सुख-सुविधा का एक अंश प्राप्त करके काम चलाऊ संतोष प्राप्त करें, पर जिनके सामने कोई उच्च आदर्श है, वे तब तक ठहरें—जब तक कि उन्हें लक्ष्य की

ओर कदम से कदम मिलाकर साथ चलने वाला एवं सच्चा सहयोग दे सकने की मनःस्थिति और परिस्थिति वाला साथी न मिल जाए।

जिन्हें भौतिक सुखों के प्रति ही आकर्षण है, उन्हें जहाँ भी थोड़ी उपयुक्तता जँचे वहाँ बिना बहुत अधिक सोच-विचार किए संबंध जोड़ सकते हैं। काम चलाऊ विवाहों में लाभ-हानि बराबर है। लाभ यह है कि वासना के लिए व्यवस्थित मार्ग मिल जाता है और गड़बड़ फैलने का खतरा सीमित हो जाता है। गृह व्यवस्था में साथ सहयोग मिल जाता है, तब सुख-दुःख की घड़ियों में किसी कदर सहयोग मिलता है, किंतु यहाँ ध्यान यही रखा जाता है कि इतना भी मिलेगा तब, जब अपने को प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने की कला आती हो। अनाथ और असमर्थ होने की स्थिति में तो भिक्षुकों की मिलने वाली यत्किंचित सहायता के बदले अपनी अंतरात्मा बेचनी पड़ती है। अस्तु काम चलाऊ विवाहों के बंधन में बँधने से पूर्व भी इतनी क्षमता तो प्राप्त कर ही लेनी चाहिए, जिसके बल पर साथी को सीधा खड़ा हो सकने में सफलता मिल सके।

सामान्य स्तर के विवाहों में साथी का सहयोग मिलता है, पर बदले में उसका ऋण साथ ही साथ चुकाते चलना पड़ता है। आत्माओं के मिलन का आदर्श बहुत ऊँचा है, वह कहीं-कहीं और कभी-कभी ही झलक दिखाते देखा जाता है। आमतौर से आदान-प्रदान की नीति ही कार्यान्वित होती है। पति का सहयोग पत्नी प्रायः तब पाती है जब शरीर से श्रम और मन से अनुकूलता की कीमत चुकाती है।

पत्नी का सहयोग तब मिलता है जब उसकी तथा उसके उदर से उत्पन्न हुए बालकों के लिए अपनी भौतिक तथा मानसिक उपलब्धियों का प्रायः समूचा अंश निचोड़ा जाता है। सामान्य कहे जाने वाले व्यावहारिक विवाहों में आदान-प्रदान का इतना मूल्य तो चुकाना ही पड़ता है। कम मूल्य से अधिक लाभ देने वाली किसी की भाग्य-लाटरी ही छप्पर फाड़कर बरस पड़े और अयोग्य होने की स्थिति में भी दूसरे पक्ष की उदारता से गृहस्थ जीवन सुखद बन पड़े तो इसे अपवाद-चमत्कार ही समझा जाना चाहिए।

विवाह को सफल बनाने के लिए यदि उपयुक्त जोड़ीदार तलाश करना हो तो उसके लिए अत्युक्तिपूर्ण नहीं वरन यथार्थ जानकारी प्राप्त की जानी चाहिए। इस सिद्धांत से कोई भी इंकार नहीं करेगा। इस प्रकार की ढूँढ़ खोज में जासूसी, गुप्तचरी जैसा झंझट उठाकर, भागदौड़ करके शकल, सूरत, रूप सौंदर्य, धन-वैभव, शिक्षा-चरित्र तथा गुण कर्म स्वभाव के बारे में अपेक्षित सूचनाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। ताकि पीछे पश्चात्ताप की गुंजायश शेष न रहे। यह प्रक्रिया उचित भी है, उपयुक्त भी। इसके बावजूद रूप, धन एवं गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर की गई परख भी अधूरी तथा ओछी है, क्योंकि इस कसौटी पर कस लेने के उपरांत भी यह निश्चिंतता नहीं हो सकती कि गृहस्थ सुख पूर्वक चल पाएगा। दूसरा व्यक्ति कभी भी बदल सकता है या उसके संबंध में जो निष्कर्ष निकाला गया था, वह गलत भी हो सकता है।

इस क्षेत्र की सफलता का एकमात्र सूत्र है अपने में उस दूरदर्शिता और सदाशयता का होना जिसके सहारे दूसरे को सुधारा या बदला जा सकता है। यदि वैसा न बन पड़े तो ताल-मेल बिठाने वाला एक पक्षीय प्रयास भी किया जाता रह सकता है। साथी के सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होने पर भी परिष्कृत आदर्शवादिता अपनाए रहकर इस प्रकार का चिंतन रखा जा सकता है जिसके कारण अपने कर्त्तव्य पालन की प्रतिक्रिया आत्मसंतोष का सत्परिणाम प्रस्तुत करती रहे। साथी के अनुपयुक्त आचरण से निराशा होनी तो स्वाभाविक है, पर इतने पर भी एक पक्षीय कर्त्तव्य पालन टकराव की स्थिति से बचाए रह सकता है और अपने सद्व्यवहार का आनंद अपनी प्रतिक्रिया प्रतिध्वनि एवं प्रतिच्छाया से अपने को आशान्वित किए रह सकता है। ऐसी दशा में यह संभावना भी बनी रहती है कि रस्सी की रगड़ से पत्थर पर निशान बन जाए और कठोरता बतरने वाला पाषाण हृदय भी कालांतर में कोमल बन जाए। ऐसे परिवर्तन और सुधार के असंख्य उदाहरण हम अपने इर्द-गिर्द ढूँढ़ सकते हैं। इसके विपरीत उन उदाहरणों की कमी नहीं जिनमें कटुता, कर्कशता, आक्षेप, अपमान, अविश्वास जैसे विषाक्त तत्व मिलते जाने पर मन फट गए

और कभी एकता की स्थिति उलटकर उपेक्षा और विद्वेष में परिणत हो गई।

जब तक दूसरे की सहायता से, कृपा-अनुकंपा से मनोरथ सिद्ध करने की बात मन में रहेगी तब तक परावलंबन की स्थिति बनी रहेगी और पराधीन परमुखापेक्षी जिस तरह आशा-निराशा के झूले में झूलते रहते हैं वैसी ही दुर्दशा अपनी भी होती रहेगी। अनुकूलता दिखाई गई तो संतोष, प्रतिकूलता बरती गई तो रोष क्रंदन। भला यह भी कोई बात रही। स्वावलंबन से कम में किसी को चैन नहीं। स्वाधीनता बिना किसी की गति नहीं।

विवाह चाहे सोद्देश्य हो अथवा लोक प्रवाह का गठबंधन। दोनों ही दशा में दोनों पक्षों को अपना उत्तरदायित्व निभाने और विवाह सुख की पूरी-पूरी कीमत चुकाने की तैयारी करनी चाहिए। इसमें जितनी कमी रहेगी, उतनी ही इस प्रयोग में असफलता हाथ लगेगी और सुख की आशा को जंजाल जैसी निराशा में परिणत होने की संभावना रहेगी।

सच तो यह है कि विवाह उन्हें ही करना चाहिए जिनमें इस स्तर का आत्मविश्वास विकसित हो गया हो कि जैसे भी साथी से पाला पड़ेगा, उसे गला धुलाकर अपने ढाँचे में ढाल लिया जाएगा। इस प्रयास में कठोरता और अहंकार की नीति सफल नहीं होती। उदारता, विश्वास और आत्मीयता की सघन संवेदनाएँ ही पत्थर को पानी बना देने में सफल होती हैं।

वस्तुतः विवाह आसमान से बरसने वाली सुविधा का वरदान नहीं, कठोर कर्त्तव्य का निर्वाह है। उसमें पाने की आशा कम और देने की तैयारी अधिक करके ही चलना चाहिए। सुख-दुःख में समान रूप से भागीदार बनने वाला—एक घनिष्ठ साथी प्राप्त करने के लिए ही दो आत्माएँ विवाह बंधन में बँधती हैं। संतानोत्पादन उसके बाद का गौण उद्देश्य है। संतानोत्पादन या वंशवृद्धि ही विवाह का प्रयोजन होता तो उसके लिए नर-नारी को एक साथ रहना कदापि आवश्यक नहीं होता। मनुष्येतर प्राणी जिस प्रकार प्रजनन करते हैं और कामसेवन के बाद एक-दूसरे से अलग स्वच्छंद सर्वत्र स्वतंत्र हो

जाते हैं, उसी प्रकार नर-नारी भी काम सेवन के बाद स्वतंत्र स्वच्छंद रह सकते थे, परंतु ऐसा नहीं होता। इसका कारण यही है कि नर को एक घनिष्ठ आत्मीय सहयोगी चाहिए जो नारी के रूप में उसके व्यक्तित्व का पूरक भी बनता हो और नारी को भी अपने व्यक्तित्व का पूरक चाहिए जो उसे प्रेम, संरक्षण, स्नेह और सहयोग प्रदान कर सके, किंतु कितने दंपत्ति हैं, जो एक-दूसरे की यह अपेक्षा पूरी कर पाते हैं ? एक-दूसरे के लिए प्रेम, त्याग, बलिदान का व्रत लेने के बाद भी क्यों अधिकांश दंपत्ति एक-दूसरे से असंतुष्ट रहते हैं ? इसमें किसी एक पक्ष का दोष नहीं है। दोनों ही पक्ष एक-दूसरे से अनावश्यक अपेक्षाएँ करने लगते हैं और वे अपेक्षाएँ पूरी नहीं होतीं तो खिन्न, असंतुष्ट, क्षुब्ध एवं शिकायती स्वभाव के बन जाते हैं।

उदाहरण के लिए बहुत-सी पत्नियाँ समझने लगती हैं कि विवाह के बाद उनका सारा उत्तरदायित्व पति ने सँभाल लिया। विवाह के बाद उनका एक ही काम है साज-शृंगार से रहना, खूब ठाटबाट बनाना और मौज-मजे उड़ाना। पति कमाकर लाए और उसकी सुख-सुविधा के लिए पर्याप्त साधन जुटाए। यह दृष्टिकोण अपनाने वाली स्त्रियाँ अपने पति के लिए साथी-सहचर होने के स्थान पर उन पर एक दुर्वह भार ही सिद्ध होती हैं। किसी विद्वान ने इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए लिखा है, "युवतियाँ प्रायः विवाह के समय अपने पति का हाथ पकड़ती हैं तो उसका प्रकट उद्देश्य यह होता है कि वे एक-दूसरे के साथी-सहचर बनकर जीवन निभाएँगे। हाथ पकड़ने की यह रस्म आजीवन मैत्री की प्रतिज्ञा के तौर पर संपन्न की जाती है, परंतु होता यह है कि विवाह के बाद स्त्रियाँ अपने पति के कंधों पर चढ़ जाती हैं और उन पर बोझ बन जाती हैं।" सभी स्त्रियों के संबंध में नहीं तो अधिकांश स्त्रियों के संबंध में यह सर्वथा-सत्य है। रोज नई माँगें करना, रोज नई फरमाइशें रखना, रोज नए साधन-सुविधाओं के लिए जिद करना, बोझ बनना नहीं तो और क्या है ?

इसका मतलब यह नहीं है कि पत्नियाँ ही पूरी तरह दोषी हैं। इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन कौन देता है ? कौन उचित-अनुचित माँगों

और प्रस्तावों को मानकर, पूरा कर, नई-नई माँगें करने का द्वार खोलता है ? निश्चित ही छूट पति की ओर से प्राप्त होती है ? पति की ओर से यह छूट क्यों होती है ? इसका एक कारण तो यह है कि पुरुष स्त्री को अपना साथी-सहचर समझने की अपेक्षा उसे खिलौना और मनोरंजन का साधन ज्यादा समझता है। स्पष्ट ही इसके पीछे अमर्यादित काम सेवन की प्रवृत्ति है। पति अपनी काम वासना को तृप्त रखने और पत्नी को नित नूतन रूप में आकर्षक देखने के लिए उसकी साज-शृंगार जैसी माँगों को मानता चलता है और पत्नी जाने-अनजाने ही पति की इस कमजोरी का लाभ उठाने लगती है या उसका दोहन करने की दिशा में प्रवृत्त हो जाती है।

दूसरे, कई लोग यह सोचते हैं कि मिलने-जुलने वालों में, जाति-बिरादरी में, सभा-सोसायटियों में, मित्र, परिचितों के परिवारों में उनकी पत्नी जितनी ही ज्यादा बनठन कर जाएगी उतनी ही संपन्नता की धाक जमेगी। इस दृष्टिकोण के लोग स्वयं फटेहाली में रहकर भी पत्नी को एक शो पीस या सजीली सँवारी गुड़िया की तरह रखने को ज्यादा महत्त्व देते हैं और उसे आर्थिक दृष्टि से अपने लिए एक बोझा बना लेते हैं। सभ्य कहे जाने वाले तथाकथित ऊँची सोसायटी के लोगों की बात जाने दें, गाँव-गँवई के लोग भी स्त्रियों को बनठन कर रहने की बात को इतना महत्त्व देते हैं कि देहातों में एक हाथी पालने और घर में एक औरत रखने का खर्च बराबर है, की कहावत आम प्रचलित है।

पुरुषों द्वारा स्त्रियों की इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने का जहाँ तक प्रश्न है, उसके कई कारण हो सकते हैं, लेकिन पुरुष या पति अपनी पत्नी से जो अपेक्षाएँ करता है, वे भी सब की सब एकदम उचित नहीं कही जा सकतीं। कहा जा चुका है कि पति-पत्नी को ज्यादातर कामसेवन का एक उपकरण, एक खिलौना मात्र समझता है और इस समझ के कारण पत्नी के साथ अनाचार तथा अपने स्वास्थ्य से खिलवाड़ करता रहता है। पत्नी का स्वास्थ्य भी बिगड़ता है और अपना भी। फायदा किसी भी पक्ष को नहीं होता, दोनों ही घाटे में रहते हैं। कई बार तो अनाचार इस सीमा को भी पार कर

जाता है कि पत्नी बेचारी तंग आ जाती है। समाज और कानून की दृष्टि में यह कामाचरण भले ही मान्यता प्राप्त हो, पर मानवीय दृष्टिकोण से इसे दुराचार की ही संज्ञा दी जाएगी। इस तरह के दुराचरण से तंग आकर पत्नियाँ प्रायः जर्जर स्वास्थ्य वाली हो जाती हैं। उनका स्वभाव चिड़चिड़ा और शरीर थका, मन बुझा-बुझा-सा रहने लगता है। वे अपनी संवेदनाओं को व्यक्त भले ही न करें, पर समझने यही लगती हैं कि पति के लिए वह मात्र खिलौना हैं। जिससे जब चाहा खेल लिया। पति-पत्नी के इस स्तर के संबंधों पर व्यंग्य करते हुए किसी लेखक ने अपनी पत्नी को सामाजिक मान्यता प्राप्त एक ही व्यक्ति के लिए सुरक्षित वेश्या तक कह डाला है।

विचार किया जाना चाहिए कि जीवन साथी का चुनाव क्या इसलिए किया जाता है कि एक को सवार होने, चढ़ने और बैठने के लिए कोई कंधा मिल जाए और दूसरे को खेलने मनोरंजन करने के लिए कोई खिलौना ? कोई भी विचारशील व्यक्ति इसका उत्तर 'हाँ' में नहीं दे सकता। इन बातों को, जिनका दांपत्य संबंधों में सुई की नोंक के हजारवें हिस्से के बराबर महत्त्व है, सब कुछ मान लेना और सर्व प्रधान महत्त्व देना हर दृष्टि से अनुचित ही है। जब तक यह दृष्टि बनी रहेगी तब तक पत्नी, पति के लिए भार बनी रहेगी और पति, पत्नी के लिए दुश्मन की तरह व्यवहार करने वाला दंभी मित्र।

स्थिति को बदला जाना चाहिए और दांपत्य जीवन के संबंध में प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण साफ रहना चाहिए कि इन संबंधों की सार्थकता न आर्थिक संरक्षण में है न कामुक खिलवाड़ में। अपितु इसकी सार्थकता निश्छल प्रेम, सेवा, सहयोग, सहानुभूति, त्याग, बलिदान और सहिष्णुता जैसे आदर्शों को अपनाने, उनका अभ्यास और व्यक्तित्व में विकास करने में है। पति या पत्नी के रूप में हमें अपना आत्मिक विकास करने और जीवन यात्रा को सहज सरल ढंग से पूरी करने के लिए एक साथी मिला है, इस मान्यता को आस्था के रूप में स्थापित कर लिया जाए तो कोई कारण नहीं है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष के लिए बोझ बने या भार सिद्ध हो।

गृहस्थ जीवन को एक योगाभ्यास की तरह व्यतीत करने और दांपत्य संबंधों का उपयोग अपना आत्मिक विकास करने के लिए किसी ने यह स्वर्णिम सूत्र बताया है कि, 'अपने साथी का स्वभाव और रुचि समझो, उसे उचित ढंग से संतुष्ट रखने का प्रयत्न करो और उसी के अनुरूप व्यवहार अपनाओ।' जब दोनों पक्ष एक-दूसरे के अनुरूप व्यवहार करने, एक-दूसरे को संतुष्ट रखने, एक-दूसरे का ध्यान रखने और एक-दूसरे को महत्त्व देने की नीति अपनाएँगे तो स्वाभाविक ही दोनों में सामंजस्य उत्पन्न होगा।

एक-दूसरे को संतुष्ट रखने के संबंध में यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि किन्हीं भी दो व्यक्तियों का स्वभाव पूरी तरह मेल नहीं खाता। पति-पत्नी की रुचि और प्रकृति भी भिन्न-भिन्न हो सकती है। हो सकता है कि अधिकांश मामलों में दोनों की पसंद एक हो, पर सभी मामलों में ऐसा होगा, यह नहीं कहा जा सकता। कौन-सा पक्ष, कब, किसकी बातं को महत्त्व दे ? इस विषय में कोई नियम या आचार संहिता नहीं बनाई जा सकती, लेकिन यह सच है कि रुचि और पद्धति की इस भिन्नता के कारण ही अधिकांश विग्रह खड़े होते हैं। इस संबंध में दोनों पक्ष एक-दूसरे के प्रति समझपूर्ण रवैया अपनाएँ तो सरलता से सामंजस्य स्थापित हो सकता है। दूसरे की रुचि में अपनी सहमति व्यक्त करना तो उचित है, पर अपनी रुचि में दूसरे को दबाना गलत है। कहीं कोई अनुचित अवांछनीय दिखाई दे तो बात दूसरी है, अन्यथा दूसरे को अपने अनुकूल बनाने की बात ही अधिक श्लाघनीय और सुखद परिणाम प्रस्तुत करने वाली सिद्ध होती है।

यह स्थिति अभ्यास से ही प्राप्त होती है और अभ्यास के दौरान रुचि वैचित्र्य या मतभेदों के कारण कई बार पति-पत्नी में झगड़े भी हो जाते हैं। हालाँकि यह कोई अनहोनी दुर्घटना नहीं है, परंतु अहं जब इतना उन्मत्त हो उठता है कि आपसी विग्रह औरों से चर्चा का विषय बन जाए तो अनर्थ ही पैदा होता है। घर में तो झगड़े होने के कुछ देर बाद शांत भी हो जाते हैं, सुलह-समझौता हो जाता है। उसकी चर्चा यदि बाहर फैल गई तो औरों को हँसने का

मौका मिल जाता है और विग्रह शांत हो जाने के बाद भी लोगों में उपहास, निंदा आदि का क्रम चलता रहता है।

इस स्थिति में यह भी होता है कि झगड़ा शांत होने के बाद, यदि उसकी चर्चा किसी ने अन्यत्र में चला दी और दूसरे पक्ष को पता चल गया तो वह शांत हुआ विग्रह पुनः उठ खड़ा होता है। फिर आपसी सुलह समझौते की स्थिति नहीं रह जाती, बल्कि दोनों के लिए एक चुनौती बन जाती है। अतएव उस चुनौती पूर्ण स्थिति को उत्पन्न ही नहीं होने देना चाहिए और आपसी मतभेदों को आपस में ही सुलह समझ लेना चाहिए।

आपसी सामंजस्य स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों पक्ष एक-दूसरे के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करें। जब तक घर के किसी आवश्यक कार्य में कोई बाधा न पड़ती हो या इस स्वतंत्रता के कारण कोई विशेष असुविधा उत्पन्न न होती हो, तब तक एक-दूसरे की स्वतंत्रता में कोई दखल न दिया जाए। उदाहरण के लिए किसी एक पक्ष को खाली समय पढ़ने-लिखने में बिताने की इच्छा है और दूसरे पक्ष को गाने-बजाने में, तो न तो पढ़ने-लिखने वाले के द्वारा गाने-बजाने वाले को रोकना चाहिए और नहीं गाने-बजाने वाले को पढ़ने-लिखने को अपना संगीत सुनने के लिए बाध्य करना चाहिए, स्वेच्छा से कोई किसी का साथ सहयोग देने लगे तो बात दूसरी है अन्यथा दबाव देकर, आग्रह का संकोच उत्पन्न कर किसी को भी बाध्य नहीं करना चाहिए।

स्मरण रखा जाना चाहिए कि अपने को दूसरे की रुचि के अनुकूल बनाना जहाँ सामंजस्य पैदा करता और सहृदयता बढ़ाता है वहीं दूसरे को अपनी रुचि के अनुसार बाँधना या उसकी रुचि से विमुख करना बुरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। इससे अरुचि और घृणा ही जन्मती है, प्रेम और सामंजस्य नहीं। सामंजस्य का एक दूसरा आधार एक-दूसरे से संतुष्ट रहना भी है। दुनिया में एक से एक बढ़कर स्त्रियाँ हैं। कई बार कल्पना उठती हैं कि इस व्यक्ति से विवाह न होता और अमुक स्त्री या अमुक पुरुष जीवन साथी बनता तो कितना अच्छा रहता ? संभव है आज जो अपना जीवन साथी है,

उसके स्थान पर जिसके जीवन साथी होने की कामना की जा रही है, वह कामना साकार हो जाती तो दांपत्य जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुखकर हो सकता था।

परंतु ऐसा नहीं हुआ, यह सोचकर असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं है और हो जाता यह सोचकर रीझने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह की कल्पना मन को तो खिन्न बनाती ही है, कदाचित इस तरह के मनोभावों को व्यक्त कर दिया गया तो वर्तमान में जो सुखद संभावनाएँ हैं, उन्हें भी नष्ट करके रख देती हैं। अपने साथी से संतुष्ट रहना और उसे संतुष्ट रखने के लिए यथासंभव प्रयत्न करना, वर्तमान स्थिति को उससे भी बेहतर बनाने का उपाय है, जिसकी केवल कल्पना ही की जाती है।

इस प्रकार दांपत्य जीवन में सामंजस्य उत्पन्न करने के अनेक उपाय हैं। उनका सूझ-बूझ के साथ उपयोग करना चाहिए और किसी भी पक्ष को यह अनुभव करने का मौका नहीं देना चाहिए कि हम गृहस्थी का बोझ ढो रहे हैं। दूसरे शब्दों में पति-पत्नी को सच्चे मित्र, अभिन्न सहयोगी, सहचर और एक मन—एक प्राण बनकर जीवन को सही ढंग से जीना सीखना चाहिए। इस तपोवन में रहकर ही वह योगाभ्यास किया जा सकता है।

❐❐

नर और नारी परस्पर पूरक

मनुष्य जीवन में पग-पग पर संघर्षों का सामना करने और हर क्षण मानसिक तनाव उत्पन्न करने वाले तत्व विद्यमान रहते हैं। इन सभी विषम परिस्थितियों में एकाकी व्यक्ति सरलता पूर्वक जीवन यापन करने में असमर्थ हो जाता है। यदि किसी तरह आयु पूरी कर भी ले तो जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। इसके लिए उसे अपने समकक्ष साथी सहयोगी और अंतरंग हितैषी की जरूरत पड़ती है। संसार में अनेक महापुरुष महान् कार्यों के संपादन में अपने समान शक्ति संपन्न पात्र के सहयोग को लेकर चले हैं। भगवान कृष्ण के साथ अर्जुन, राम के साथ हनुमान, स्वामी रामकृष्ण परमहंस के साथ विवेकानंद ने उनके महान् कार्यों को अपना प्रेम भरा सहयोग पूर्णतः प्रदान किया था। सामाजिक जीवन में भी विषमता भरी परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए सुख समुन्नति पूर्ण जीवन यापन के लिए नर और नारी का युग्म माना गया। भारतीय संस्कृति में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाह संस्कार को एक आदर्श के रूप में रखा गया था।

वस्तुतः मनुष्य जीवन में निरंतर आने वाली विक्षोभ भरी परिस्थितियों से संघर्ष पूर्ण सामना करने और सफलता प्राप्त करने में जितना अच्छा स्नेह सहयोगी सहधर्मिणी और सहचारी कहलाने वाली नारी दे सकती है, उतना अन्य किसी के द्वारा संभव नहीं, परंतु इसके लिए दांपत्य जीवन में नारी और नर दोनों का स्तर एक समान होना चाहिए। दोनों का ही हृदय एक-दूसरे के लिए पूर्ण प्रेम और त्याग भावना से लबालब भरा रहना चाहिए। गाड़ी के दोनों सशक्त और समान पहिए ही उसे आगे बढ़ाने में समर्थ होते हैं। मनुष्य अपनी दोनों बराबर लंबी व स्वस्थ टाँगों से दौड़कर ही मंजिल प्राप्त करता है। इमारत ईंट और चूने के सहयोग पर ही

बनकर खड़ी होती है ठीक इसी प्रकार सुख-पूर्ण दांपत्य जीवन यात्रा के लिए नर और नारी दोनों को एक-दूसरे का पूरक और सहयोगी बनकर चलना पड़ेगा। दोनों में परस्पर स्नेह, प्रेम, सहयोग, सद्भाव न रहे तो टूटे पहिए की गाड़ी अपने अस्तित्व को लिए हुए खड़ी तो रहेगी, पर आगे नहीं बढ़ सकेगी।

नर और नारी एक ही चेतना, एक ही सत्ता के दो पहलू हैं। दोनों का समान रूप से विकास और उन्नति भी आवश्यक है। नारी वस्तुतः भावना और सृजन प्रधान है, उसमें कला, लज्जा, शालीनता, स्नेह और ममत्व जैसे गुण हैं। पुरुष बुद्धि प्रधान और कर्म प्रधान है। अपने बुद्धि बल से वह गृहस्थ जीवन की आवश्यक साधन सुविधाएँ जुटाता है। उसकी प्रकृति में परिश्रम, उपार्जन और कठोरता जैसे गुणों की विशेषता है। उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के गुण अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों व्यक्तियों का समुच्चय ही एक पूर्ण समग्र व्यक्तित्व का निर्माण करता है। इनमें से एक के बिना भी व्यक्ति अधूरा रह जाता है। बुद्धि और भावना दोनों पर ही दांपत्य जीवन की सफलता टिकी है। नारी की प्रेरणा, प्रोत्साहन, स्वाभाविक प्रेम और त्याग भावना, पुरुष की क्रिया के रूप में दृष्टिगत होती है। यदि पति का स्नेह, सहयोग उसे भी उसी तरह मिलता रहे तो उसमें भी वे क्षमताएँ कम नहीं, जिनसे वह स्वयं विकसित होकर संपूर्ण गृहस्थ जीवन को सुवासित पुष्पों की सुगंध से न भर सके। पति के निश्चल प्रेम और सहयोग से ही प्रकृति प्रदत्त क्षमता के अनुरूप वह मातृत्व धारण कर समाज को नर रत्नों से विभूषित करती है। यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि वह सारी वसुधा को भी अपनी कोमल भावनाओं से पुष्पित पल्लवित करती रहती है।

बायरन ने लिखा है, "स्त्री पूर्णतः प्रेम के लिए समर्पित होती है। यदि उसे यह रस मिलता रहे, उसमें कृत्रिमता न आए तो वह साक्षात् कल्प वृक्ष के समान है, पर यदि उसे कामिनी और रमणी के रूप में देखा जाता है, तो उसके विषदंश की ही आशंका बनी रहेगी।"

भावनात्मक दृष्टि से आंतरिक उदारता, उत्कृष्टता, त्याग और प्रेम की दृष्टि से नारी का स्तर नर की तुलना में स्वभावतः ही बहुत ऊँचा है। यह अनुदान उसे प्रकृति प्रदत्त उपहार के रूप में मिला है। भौतिक दृष्टि से संसार में जल के चमत्कार से ही शीतलता और सरसता दिखाई देती है, किंतु चेतन जगत में जो मधुरिमा और सद्भावना दिखाई देती है, उसका मूल उद्गम स्रोत नारी है। उसके इसी गुण के कारण सती दहन के बाद पत्नी वियोग से भगवान शंकर विक्षिप्त हुए थे, और उनके मृत शरीर को कंधे पर लादकर तांडव नृत्य करने लगे थे। यह कथानक कहाँ तक सही है, इस विवाद में न पड़कर यह मानना होगा कि नारी प्रेम, वात्सल्य एवं सहयोग के अभाव में ऐसी भी स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

प्राचीन काल में भारतीय दांपत्य जीवन नारी के इन्हीं गुणों के कारण अति सुखद था। यही नहीं उन्होंने अपने पतियों को कठिन परिस्थितियों में भी महान कार्यों के संपादन में भी पूर्ण स्नेह सहयोग दिया था। महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नि मैत्रेयी सांसारिक सुखों के लिए नहीं विशुद्ध आत्म साधन के लिए ही उनकी सहधर्मिणी बनी थी। जब भी ऋषि उससे भौतिक सुख की बात पूछते तो वह यही उत्तर देती, "ये नाहं नाम्रता स्याम किमहं तेनकुर्याम्।" सुकन्या ने अंधे और वृद्ध ऋषि से विवाह इसलिए किया था कि वह उनकी तपश्चर्या के साधन जुटाकर उनका सहयोग करेगी। वन में रहने वाले निर्धन सत्यवान से सावित्री ने इसलिए विवाह किया था कि वह उनकी वनौषधि शोधकर्म में सहायता करेगी। भामती जो विद्वान वाचस्पति की पत्नी थीं, अपने परिश्रम से रस्सी बँटकर धनोपार्जन करती थीं और पति को सारा समय ग्रंथ लेखन में लगा रहने देती थीं। मन की निश्चल सेवा साधना के कारण ऋषि ने प्रसन्न होकर अपनी संस्कृत टीकाओं का नाम 'भामती' रखा था।

यदि दांपत्य जीवन में इसी तरह की त्याग भावना और सहयोग का समावेश पति-पत्नी दोनों में नहीं होता तो स्वर्ग कहलाने वाला दांपत्य जीवन कलह, क्लेश, दुःख-ईर्ष्या और नरक के केंद्र बने होते। पाश्चात्य देशों में प्रेम, सहयोग जैसे महत्त्वपूर्ण तत्वों के अभाव में ही

दांपत्य जीवन क्षत-विक्षत होते दिखाई देते हैं। वहाँ प्रतिदिन विवाह विच्छेद के अनेक उदाहरण हैं। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार अमेरिका में औसतन प्रतिदिन ५ रजिस्ट्रेशन विवाह के होते हैं और ६ तलाक लिए जाते हैं। हमारे देश में नारी के प्रकृति प्रदत्त गुणों के कारण आज भी दांपत्य जीवन अधिकांश सफल दृष्टिगत होते हैं।

मध्यकालीन कुछ विषम परिस्थितियों के कारण नारी को घर में सुरक्षित रहना पड़ता था। वही परंपरा के रूप में आज तक चला आ रहा है। उसे मात्र वस्त्रों, आभूषणों से सजाकर या तो आकर्षण का केंद्र और रमणी भोग्या माना जाता है, या उसकी योग्यता को मात्र चौके-चूल्हे तक अथवा घर-गृहस्थी के अन्य कार्यों तक सीमित कर दिया जाता है।

इस स्थिति को बदला जाना चाहिए। स्त्रियों पर यह बंधन नहीं होना चाहिए कि वे घर के पिंजड़े में ही कैद रहें। प्राणी को पिंजड़े में कैद करने पर उसकी प्रकृति द्वारा दी गयी स्फूर्ति, मानसिक क्षमता क्रमशः नष्ट होती चली जाती है। स्वतंत्रता की आकांक्षा ईश्वर प्रदत्त है। यह आत्मा की भूख है। नारी दासी और पुरुष उसका स्वामी यह बात तभी सही हो सकती है जब नारी मिट्टी या धातु जैसे जड़ पदार्थों की बनी होती है। स्त्री न तो जड़ है, न भोग्या उसे भगवान ने मनुष्य बनाया है और नर से श्रेष्ठ गुणों, भाव-संवेदनाओं से भूषित किया है। इसमें नारी को स्वयं तो स्वयं की सत्ता की महत्ता के प्रति सचेत होना ही होगा, पुरुषों को भी अपना पूर्ण योगदान देना होगा। दोनों को यह मानना होगा कि उनका स्वरूप वर्चस्व समान है। दोनों के समान अधिकार व कर्तव्य हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक और सहयोगी तो हैं, पर एक-दूसरे पर आश्रित नहीं हैं। दोनों में बराबर का प्रेम, आत्मीयता, सहयोग, सहकार ही सामाजिक जीवन को विक्षोभ भरी परिस्थितियों को सुलझाने में सहायक होंगे। प्रेम और सहयोग की शक्ति का महत्त्व अपरिमित है। पुरुष से सद्व्यवहार और सद्भावनाओं को प्राप्त कर नारी अपना समुचित विकास कर सकेगी, दांपत्य जीवन में अधिक सहयोगी सिद्ध हो सकेगी। एक सुसंस्कृत, संपन्न, विकसित समाज की कल्पना तभी साकार हो पाएगी।

❑❑

आत्मीयता और समर्पण पर निर्भर दांपत्य जीवन

दो वस्तुओं के मिश्रण से तीसरी वस्तु बनने की रासायनिक प्रक्रिया से सभी परिचित हैं। औषधि शास्त्री जानते हैं कि यदि अमुक वनस्पतियाँ, धातुएँ और क्षार अलग-अलग सेवन किए जाएँ तो उनका बहुत ही साधारण प्रभाव होगा, किंतु उन्हें मिला दिया जाए तो इस मिश्रण से एक नई ही प्रक्रिया उत्पन्न होगी। रसायन विज्ञान इसी आधार पर नई-नई वस्तुओं और विधियों का आविष्कार करता रहता है। इसी सिद्धात के द्वारा अनेकानेक नई वस्तुएँ, नई जानकारियाँ और नए पदार्थ निर्मित होते हैं।

यह तो जड़ वस्तुओं की बात हुई। चेतन या जीवित प्राणियों का चेतन के स्तर पर मिलन उससे भी एकदम भिन्न और विलक्षण परिणाम प्रस्तुत करते हैं। विवाह चेतना के स्तर पर मिलन और मिश्रण प्रक्रिया का ही शुभारंभ कहा जा सकता है जिससे नर और नारी दो भिन्न तरह की जैविक इकाइयाँ हृदय से एक-दूसरे के प्रति समर्पित होती तथा नए व्यक्तित्व का निर्धारण करके, एक-दूसरे का कायाकल्प करते हैं। नर-नारी का यही सम्मिश्रण सृष्टि निर्माण क्रम में चलता रहने से रंग-बिरंगे और विविध प्रतिभाओं से सुसंपन्न फूल तथा तरह-तरह के स्वाद वाले फल उत्पन्न होते हैं। नर-नारी के बीच ऐसे घुलनशील तत्व हैं जो यदि गहन स्तर पर मिल सके तो एक नए ही व्यक्तित्व को जन्म देते हैं और दोनों अपना पुराना स्तर खोकर नए स्तर के बन जाते हैं। इस परिवर्तन को स्पष्ट देखा जा सकता है। विवाह से पूर्व लड़की कुमारी अवस्था में जिस तरह की होती है उसमें विवाह के बाद कायाकल्प जैसा परिवर्तन हो जाता है और लड़के विवाह से पूर्व जिस प्रकृति के होते हैं वे भी विवाह के बाद इतने बदल जाते हैं कि केवल आकृति ही पुरानी रह जाती है,

प्रकृति में जो जमीन-आसमान जैसा अंतर उपस्थित हो जाता है। लेकिन यह होता तभी है जब वे भावनात्मक स्तर पर इतनी गहराई तक उतर जाएँ कि एक-दूसरे में घुल जाने की स्थिति प्राप्त कर लें।

भावनात्मक स्तर पर घुलने मिलने की प्रक्रिया यकायक संपन्न नहीं होती। इस संबंध में थियोडोर पार्कर का कहना है कि पुरुष और स्त्रियाँ विशेषकर युवा व्यक्ति जिनका अभी-अभी विवाह होता है, यह नहीं जानते कि दो हृदयों को पूर्ण रूप से एक-दूसरे में घुलने, उनका पूरी तरह संयोग होने में वर्षों लग जाते हैं भले ही वे परस्पर प्रेम करने वाले क्यों न हों, एक-दूसरे की ओर पहले से ही आकृष्ट क्यों न हों। इसका एकमात्र कारण यह है कि प्रकृति के नियमों के अनुसार आकस्मिक और तत्काल परिवर्तन नहीं हो सकता। संयोग, सम्मिलन और एकात्म स्थिति धीरे-धीरे ही प्राप्त होती है। चिरकाल तक एक-दूसरे के प्रति समर्पण, एकात्म हृदय होने का ही दूसरा नाम दांपत्य जीवन है।

दूसरे के व्यक्तित्व में घुल जाने की स्थिति प्राप्त करने में समय लगता है। व्यक्तित्व में घुलने का अर्थ है इतनी सघन भावनात्मक एकता कि उसमें शरीरों की भिन्नता का आभास ही नष्ट हो जाए। एक प्राण दो शरीरों का आभास होने लगे। इस सघनता की प्राप्ति के लिए शुभारंभ आत्मीयता, प्रेम, त्याग और समर्पण की भावनिष्ठा जाग्रत करने के साथ होता है। इस मार्ग से जब लय योग की साधना की जाती है, एक-दूसरे के व्यक्तित्व में घुल-मिल जाने का क्रम आरंभ होता है तो इसके दो परिणाम होते हैं पहला तो यह कि एक प्रखर एवं अभिनव व्यक्तित्व से दोनों संपन्न बनते हैं। उस प्रखरता से, अभिनव व्यक्तित्व की आभा से दोनों जगमगा उठते हैं। दूसरा प्रतिफल होता है संतान की ऐसी उपलब्धि जो अगणित प्रतिभाओं से संपन्न होती है।

विवाह का यही मूल प्रयोजन है। व्यक्तित्व में घुलनशीलता, एकात्म स्थिति प्राप्त करना और प्रखर प्रक्रिया संपन्न संतान को जन्म देना। नर-नारी के बीच प्रकृति ने इसीलिए स्वाभाविक आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। रतिक्रिया में जिस आनंद, जिस आवेश का समावेश

होता है उसकी अनुभूति होती है उसका कारण भी यही है। प्रकृति चाहती है कि उसके परिवार में जीवधारियों का वंश ही न बना रहे वरन् उनका स्तर भी विकसित होता रहे। कहना न होगा कि भावनात्मक सघनता का सम्मिश्रण व्यक्तियों का स्तर विकसित करता है और पीढ़ियों में विशेषता भरता है। यही प्रक्रिया जब शारीरिक सघनता में परिणत होती है तो उच्चकोटि के गुणों से संपन्न संतति का जन्म होता है। नर और नारी की अपूर्णताओं को एक-दूसरे की विशेषताओं से पूरी करके, एक-दूसरे का पूरक बनते हुए पूर्णता को प्राप्त करना ही दांपत्य जीवन का मूलभूत प्रयोजन है। जहाँ पति-पत्नी की प्रकृति मिल जाती है और दोनों में परस्पर सघन सहयोग होता है, वहाँ इच्छित संतान का प्रतिभाशाली संतति का जन्म होना तो सुनिश्चित है ही, दोनों के व्यक्तित्व का कायाकल्प भी उतना ही सुनिश्चित है।

लेकिन यह सघन आत्मीयता उत्पन्न कैसे हो ? इसके लिए आवश्यकता है पति-पत्नी एक-दूसरे के साथी सहचर बनकर रहें, मालिक और गुलाम बनकर नहीं। आमतौर पर पुरुषों का दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति बहुत ही संकुचित और सामंत युगीन होता है। सामंत काल में स्त्रियों को संपत्ति समझा जाता था और जिसके पास जितनी स्त्रियाँ होती थीं उसे उतना ही बड़ा सामंत समझा जाता था। आज बदलते युग में एकाधिक पत्नियाँ तो कोई रखता नहीं है, परंतु उस समय के दृष्टिकोण में कोई विशेष भिन्नता नहीं आई है। पुरुष आज भी पत्नी को अपना मित्र और साथी-सहचर कम, दासी अधिक मानता है। परिणामतः इस स्तर की सघन आत्मीयता उत्पन्न नहीं हो पाती जो कि आदर्श दांपत्य के लिए आवश्यक अनिवार्य होती है।

स्त्री-पुरुष के लिए जितना त्याग बलिदान करती रहती है उस दृष्टि से स्त्री का स्थान पुरुष की तुलना में ऊँचा ही ठहरता है नीचा नहीं। एक प्रसिद्ध विचारक ने स्त्री के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"स्त्री क्या है ? वह सीधी स्वर्ग से आई है, एक पवित्र और सुकुमार उपहार के रूप में और इतने प्रेम व

त्याग से भरी हुई है कि उसके प्रेम की थाह को किसी भी मापदंड से नहीं मापा जा सकता है। वह घर, समाज यहाँ तक कि सारी दुनियाँ को पवित्र करने के लिए, सुख-चैन देने के लिए और जगमगाने के लिए बनाई गई है। वह इतनी अमूल्य बनाई गई है कि उसका कोई मूल्य नहीं आँक सकता और यदि आँक सकता है तो केवल वही व्यक्ति, जिसकी माँ इतने समय तक जीवित रही हो कि वह उसके महत्त्व को समझ सका हो, या फिर वह व्यक्ति नारी का मूल्य आँक सकता है, जिसे जीवन के संकट काल में, जबकि सब ओर से उसे निराशा मिली हो, तब उसकी धर्मपत्नी ने ईश्वर में गहरी आस्था रखते हुए उसका सँबल बढ़ाया हो। वस्तुतः एक पुरुष का एक स्त्री के साथ स्थाई गठबन्धन प्रेम और आदर्श का ऐसा नाता जोड़ देता है जो और किसी भी प्रकार दो व्यक्तियों के बीच नहीं जोड़ा जा सकता।"

स्वेट मार्डन ने दांपत्य जीवन में प्रेम को धन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान मानते हुए लिखा है कि, "यदि हम चाहें तो इस संसार में थोड़े-से धन से भी निर्वाह कर सकते हैं, परंतु प्रेम एक ऐसी संपदा है, जिसकी हमारे यहाँ बहुलता होनी चाहिए और जिसे हम कभी भी इतनी मात्रा में इकट्ठा नहीं कर सकते कि हम यह कह सकें कि अब तो प्रेम आवश्यकता से अधिक हो गया।" जब थियोडोर पार्कर का विवाह हुआ तो उसने पत्नी के प्रति अपने व्यवहार को सदाशयता और मैत्रीपूर्ण रखने के लिए एक आचार संहिता बनाई। उसने विवाह के दिन ही अपनी डायरी में निम्नलिखित दस निश्चय लिख दिए और संकल्प किया कि वे दोनों कड़ाई के साथ इनका पालन करेंगे।

वे दस निश्चय इस प्रकार हैं—(१) आवश्यक कारण न हों तो पत्नी की इच्छा का कभी भी विरोध न करना। (२) उसके प्रति सभी कर्त्तव्यों का उदारता से पालन करना। (३) कभी कटु व्यवहार न करना। (४) उसके स्वाभिमान को किसी भी प्रकार ठेस न पहुँचाना। (५) उसे कभी आवेश दे देकर परेशान न करना। (६) उसकी शारीरिक निर्मलता को प्रोत्साहन देना। (७) उसके काम-काज में हाथ

बँटाना। (८) उसके छोटे-मोटे दोषों को नजर अंदाज करना। (९) उसके प्रति अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन करना। (१०) तथा उसके लिए भी परमात्मा से प्रार्थना करना। स्वेट मार्डन ने इन गुणों की तुलना यहूदियों के प्राचीन दस धार्मिक आदेशों से करते हुए लिखा है—"ये आदेश जो पार्कर ने अपने ऊपर स्वेच्छा से लागू किए यहूदियों के प्राचीन दस आदेशों के समान हैं। वास्तव में प्रेम वैवाहिक और नैतिक विधान दोनों की परिपूर्णता का नाम है।"

यह वे आधार हैं जो व्यक्तियों के मिलन को जादूगरी रासायनिक प्रक्रिया जैसा भावनात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की असाधारण क्षमता रखते हैं। इस उपलब्धि के लिए, सघन आत्मीय संबंधों के लिए पति-पत्नी के बीच सघन प्यार और विश्वास होना चाहिए, उसमें आशंकाओं और तुनुक मिजाजी के लिए कोई स्थान नहीं है। जब साथी के गुण ही गुण दिखाई पड़ें और भूलें उपेक्षा अथवा विनोद उपहास की वस्तु बन जाए, उसके कारण मनोमालिन्य उत्पन्न होने की संभावना ही न हो तब समझना चाहिए कि सच्चे मन से समर्पण या घुलने-मिलने की बात पूरी हुई। आशंकाओं, संदेहों, अविश्वासों, छिद्रान्वेषण की प्रवृत्तियों के बीच यह सघनता फलती-फूलती नहीं, उसे विश्वास और ममत्व का उन्मुक्त आकाश चाहिए।

इन प्रवृत्तियों के कारण पति-पत्नी में वह सघनता उत्पन्न होती ही नहीं है जो उनके व्यक्तित्व का कायाकल्प कर सके तथा नए व्यक्तित्व को जन्म दे सके। यदि दोनों में अपार हार्दिक सघनता न हो तो दोनों में से जिसका व्यक्तित्व अधिक प्रतिभा संपन्न और जबरदस्त होता है उसी की छाप संतान पर पड़ती है। इसलिए संतान का स्तर सरल व्यक्तित्व अपनी कोमलता के कारण दब जाता है। इस तरह गृहस्थ तो चलता रह सकता है पर एकाँगी प्रयास एक हाथ से ताली बजाने की चेष्टा के समान अपूर्ण ही रह जाता है।

फ्रांस के प्रसिद्ध मनःशास्त्री डा. क्रेटीन सौ से भी अधिक दंपतियों का अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि

यदि एक पक्ष सज्जन हो तो दूसरे को अपने में ढाल सकता है। लेकिन ऐसा तभी संभव है जब दूसरा पक्ष जैसा भी कुछ है अपना पूर्ण समर्पण कर दे। यदि दोनों व्यक्तित्व अपनी अहंता अलग-अलग बनाए रहें तो उनमें जो शक्तिशाली होगा उसी की विजय होगी। डा. क्रेटीन ने इस दिशा में कुछ प्रयोग भी किए। उन्होंने अपने निष्कर्ष को सही प्रमाणित करने के लिए विपरीत गुण, स्वभाव वाली स्त्री से विवाह करके सुयोग्य संतान की बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल न हो सके। अंततः उन्हें अपने प्रतिपादन को वापस लेना पड़ा और किसी एक पक्ष का प्रयास सफल नहीं हो सकता। इसमें दोनों को ही पिघलना पड़ता है और यह प्रयत्न करना पड़ता है कि घनिष्ठता एकता को हर कीमत पर बनाए रखा जाए। यदि ऐसा न हुआ तो फिर जो पक्ष सबल होगा दूसरे पर छा जाने का प्रयत्न करेगा।

इस संदर्भ में बर्लिन की एक महिला इमगार्ड ब्रंस का उदाहरण प्रासंगिक है। उसने एक के बाद एक पाँच बार विवाह किए। पाँचों पतियों को क्रमशः आत्महत्या करके ही अपने जीवन का अंत करना पड़ा। कारण कि उसकी भावनात्मक प्रचंडता इतनी तीव्र थी कि पति उसके शिकार होकर अपना संतुलन खोते गये। विवाह का उद्देश्य यदि मात्र संतानोत्पादन करना हो तो बात दूसरी है, अन्यथा व्यक्तित्व में प्रखर प्रत्यावर्तन उत्पन्न करना और प्रतिभाशाली संतान प्राप्त होना तभी संभव है जब नर-नारी के बीच अत्यंत गहरे एवं सघन स्तर की आत्मीयता स्थापित हो सके। ऐसे ही विवाह सच्चे अर्थों में विवाह हैं अन्यथा उन्हें एक मजबूरी का निर्वाह मात्र कहा जा सकता है। अस्तु श्रेष्ठ संतानोत्पादन के लिए दांपत्य जीवन का वास्तविक आनंद प्राप्त करने का एक ही उपाय है और वह है पति-पत्नी के बीच अति सघन, प्रचंड और प्रबल भावनात्मक एकता स्थापित करना।

मुद्रक: युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा